साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक
डॉ॰ कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

सदस्यता फार्म

'साहित्य यात्र' विशिष्ट सदस्यता	:	1100/-
एक वर्ष (4 अंक)	:	400/- (डाक खर्च सहित)
तीन वर्ष (12 अंक)	:	1200/- (डाक खर्च सहित)
संस्थागत मूल्य (3 वर्ष)	:	1100/-
आजीवन सदस्यता	:	11000/-
विदेश के लिए (3 अंक)	:	60 डॉलर

(पटना के बाहर के चेक पर कृपया बैंक कमीशन के 40/- रूपये अतिरिक्त जोड़ दें।)
उक्त दर के अनुरूप मैं चेक / ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे ग्राहक बना कर मेरी प्रति निम्न पते पर भिजवाएँ।

नाम :-	पद :-
पता :-	
दूरभाष 1 :	दूरभाष 2 :
शहर :	पिन न० :-
देश :	ईमेल -
संकाय / विभाग / विद्यालय:	

यहाँ से काटिए

भुगतान की जानकारी

नकद/बैंक रकम: रु०..... द्वारा.....

डी0डी0/प्रत्यक्ष हस्तांतरण/चेक/बैंक का नाम :.....

डी0डी/चेक/स्थानान्तरण संख्या :..... दिनांक :.....

दिनांक:		हस्ताक्षर (या पूरा नाम लिखें)	

ऑनलाइन हस्तांतरण विवरण :- साहित्य यात्र, पंजाब नेशनल बैंक, एस.के. पुरी शाखा, पटना-1, खाता क्रमांक- 623000100016263, IFSC- PUNB0623600

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-4 अंक-15 अप्रैल-सितम्बर, 2018, संयुक्तांक

परामर्शी

डॉ॰ सूर्य प्रसाद दीक्षित

डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव

डॉ॰ रामशोभित प्रसाद सिंह

डॉ॰ संजीव मिश्र

सम्पादकीय सलाहकार

श्री आशीष कंधवे

उप-संपादक

प्रो॰ (डॉ॰) प्रतिभा सहाय

सहायक संपादक

डॉ॰ सत्यप्रिय पाण्डेय

डॉ॰ रवीन्द्र पाठक

संपादक

प्रो॰ कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक है।

साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. : BIHHINO5272
ISSN 2349-1906

विश्व विद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुमोदित

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा **साहित्य यात्रा** की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713/08750483224
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com
kalanath@gmail.com
वेब साईट : http:/www.sahityayatra.com

मूल्य : ₹ 45

प्राप्ति स्थान :

पटना-
आलोक कुमार सिंह, मैग्जीन हाउस, सालीमार स्टूडियो के पास,
सहदेव महतो मार्ग, बोरिंग रोड, पटना-800001

दिल्ली -
1. आर.के. मैग्जीन सेन्टर, क्रिश्चियन कॉलोनी, पटेल चेस्ट,
दिल्ली, वि.वि., दिल्ली-11007
2. राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, मंडी हाउस, नई दिल्ली

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ॰ कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा ज्ञान गंगा क्रियेशन्स, पटना से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ॰ कलानाथ मिश्र।

अनुक्रम

संपादकीय 07

आलेख

हिन्दी भाषा का विकास मुगलों एवं अंग्रेज शासन काल के परिप्रेक्ष्य में 11
प्रो. बलराम सिंह

खंजन नयन में सूरदास की जीवनी : तथ्यों की प्रामाणिकता 14
डॉ. चंचल बाला

दक्षिण भारत में हिन्दी की स्थिति : सामाजिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में 21
सुरेश कुमार मिश्रा

राजभक्ति और भारतेन्दु 26
जसपाली चौहान

मानस का हंस : तुलसीदास की जीवनगाथा 30
डॉ. अमिता तिवारी

सक्षात्कार

प्रगतिशीलों ने प्रेमचंद के जीवन के तथ्यों को छिपाया 35
जयप्रकाश मानस

समीक्षा

मदारीपुर जंक्शन-ख्यात उपन्यासकार बालेन्दु द्विवेदी से ओम निश्चल की बातचीत 48
ओम निश्चल

आलेख

उत्तरशती का संक्रमण और उदय प्रकाश की कहानी 52
डॉ. शहाबुद्दीन

दास कबीर जतन से ओढ़ी 63
अनिल कुमार सिंह

डिजिटल इंडिया से डिजिटल गाँव तक : लक्ष्य एवं सफलताएँ 70
डॉ. रोली रघुवंशी, डॉ. आदित्य पी. त्रिपाठी

मीडिया के क्षेत्र में हिन्दी की भूमिका 78
संदीप तानाजी

नैतिकता और आध्यात्मिकता के पैरोकार कबीर 84
मनजीत कौर

नाट्य समीक्षा

आइए निकलें 'डकैत चूहों' के सामूहिक शिकार पर 91
पंकज स्वामी

पुस्तक समीक्षा

देश की प्रथम महिला शिक्षिका के जीवन पर अनुपम उपन्यास 94
हृषीकेश पाठक

समीक्षा

'रात, नींद और सपने' एक दृष्टि में 98
डॉ. अर्चना त्रिपाठी

आलेख

वर्तमान कवि और कविता का यथार्थ 103
अनिल कुमार पाण्डेय

डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की साहित्यिक पत्रकारिता और 'अवंतिका' 114
धनेश कुमार

कहानी

मीठा कुछ ढंग का 120
राम नगीना मौर्य

स्वप्न मंजरी 130
लक्ष्मी यादव

कविता

उतरती नहीं है धूप 137
विजय निकोर

वाराणसी में गिरता पत्थर 138
डॉ. ललित सिंह राजपुरोहित

कत्थई आँखों वाला शब्द 140
डॉ. ललित सिंह राजपुरोहित

इन्द्र दिव्यांजलि 141
डॉ. इन्द्रकान्त झा

रिपोर्ट

पं० तिलकराज शर्मा स्मृति अंतरराष्ट्रीय सृजन शिखर सम्मान 144
हर्षवर्धन आर्य

सम्पादकीय

शोध आलेख में समीक्षा दृष्टि का महत्व

'साहित्य यात्रा' के संपादन के क्रम में अनेक शोध आलेख देखने उसे संपादित करने का अवसर मिला है। अकसर यह देखा जाता है कि रचनाकार शोध आलेख लिखने में कुछ मूलभूत सावधानी नहीं बरतते हैं जिसके कारण उनका शोध आलेख महत्वपूर्ण नहीं हो पाता है। अत: इस संपादकीय के माध्यम से हम शोध की कुछ प्रविधि तथा शोध आलेख एवं सत्र-पत्र लेखन प्रविधि पर विचार करते हैं।

सत्य की जिज्ञासा ही शोध का मूल है। शोध में प्राप्त सूचना, आंकड़ों और तथ्यों को तटस्थ रूप से विवेचन विश्लेषण कर समस्या का समाधान ढूँढने का प्रयास करना चाहिए। शोधार्थी से अपेक्षा की जाती है कि वह तटस्थ, निर्पेक्ष, वस्तुनिष्ठ, तर्कसम्मत दृष्टि एवं विवेकपूर्ण विवेचन द्वारा अनुसंधान के परिणाम तक पहुँचे। बदलते समय में मानव समुदाय की सोच की संगत स्थापित करना भी शोध की महत्ता है। आज के युग में जब वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार ने पूरी दुनिया के ज्ञान तन्त्र की सीमाओं को खोल दिया है, प्रत्येक शैक्षिक विषय, विभिन्न प्रकार के शोध, विषय के विभिन्न प्रश्नों तथा अंतर्विषयी शोध के द्वारा अपने को समृद्ध करने की स्थिति में है। अब अंतर्विषयी शोध के माध्यम से प्रत्येक शैक्षिक विषय, शिक्षानुशासन परस्पर संवाद की प्रक्रिया में हैं। फलत: अन्तर्विषयानुशासनात्मक शोध का महत्त्व बढ़ा है। इससे विभिन्न शैक्षिक विषयों का परस्पर आदान-प्रदान संभव हुआ है। ऐसी स्थिति में एक नए शोधकर्ता के लिए शोध पद्धति में प्रशिक्षण आवश्यक है ताकि वह बेहतर शोध कर सकें। एक अनुसंधानकर्ता बौद्धिक दृष्टि से, जिज्ञासा पूर्वक और क्रमवार रूप से अपने अनुसंधान कार्य को पूरा कर सके इसके लिए आवश्यक है कि वह शोध उपकरणों का सही प्रयोग करते हुए अपने शोध कार्य को सार्थक एवं उपयोगी बनाए।

ज्ञान किसी एक सीमा तक आकर रूकती नहीं है। ज्ञानियों के मन मस्तिष्क में जिज्ञासा का भाव सतत् विद्यमान रहता है और उनके भीतर एक प्रकार का अनुसंधान सदैव चलता रहता है। इस प्रकार ज्ञान सतत आगे बढ़ता है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शोध कार्य या अनुसंधान का विशिष्ट स्थान है। किसी विषय या उसके विभिन्न पक्षों को तथ्य, तत्व, तर्क आदि कसौटियों पर परखना या उसका शोधन करना ही शोध रचना का मूल है।

शोध पत्र लिखने के लिए भी शोध प्रविधि का ज्ञान आवश्यक है यह गंभीर लेखन हेतु रचनाकार को बौद्धिक उपकरण प्रदान करता है। वैज्ञानिक दृष्टि और व्यवहारिक ज्ञान ही

रचनाकार को निश्चित दिशा में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करता है एवं उनके श्रम को व्यर्थ नहीं होने देता।

विभिन्न आँकड़े प्राप्त करने के क्रम में प्रश्नावली निर्माण भी शामिल है। अवलोकन, और साक्षात्कार के साथ-साथ सांख्यिकीय और गैर सांख्यिकीय विश्लेषण तकनीकों तथा अनुसंधान तकनीकों का चयन और उसके निर्माण करने में भी इन तकनीकों का उपयोग आवश्यक होता है। ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए ऐतिहासिक अभिलेखों और दस्तावेजों, शिलालेखों के विश्लेषण की आवश्यकता होती है। व्यक्तिगत साक्षात्कार या प्रश्नावली विधि क्षेत्र अनुसंधान के महत्वपूर्ण साधन हैं। आधुनिक युग में टेलीफोन साक्षात्कार द्वारा भी समस्याओं के बारे में तथा किसी विचार यथा पसंद, नापसंद आदि के बारे में लोगों से प्रतिक्रिया प्राप्त की जा सकती है। शोध प्रक्रिया में पूर्व के शोधकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत महत्वपूर्ण बिन्दु तथा साहित्य समीक्षा पर भी विचार किया जाना आवश्यक है, जिसके आधार पर नया शोध समस्या का सम्यक समाधान पर पहुँचा जा सकता है। स्पष्ट है कि ''शोध का सम्बन्ध आस्था से कम, परीक्षण से अधिक है।

जब रचनाकार लेख लिखते हैं तो सावधानीपूर्वक साहित्य समीक्षा करना आवश्यक है। यह मूल गृहकार्य है। सभी शोध पत्रों के निर्माण के लिए एक तथ्यपरक शोध विवरण (थीसिस स्टेटमेंट) लिखना आवश्यक है। इस तरह आप अपने पाठक को बता पाएंगे कि आपने शोध की मूल बातें उपेक्षित नहीं की हैं। सर्वेक्षण के क्रम में यह जान लेना आवश्यक है कि इस विषय पर अतीत में कौन सा शोध कार्य किया गया है। इतना ही नहीं जो विषय सीधे आपके वर्तमान शोध से संबंधित है उन शोध पत्रों का मूल्यांकन, तुलना और विरोधाभास, तथा विषय से संबंधित विभिन्न विद्वानों का अनुसंधानात्मक लेख, के साथ-साथ अन्य प्रासंगिक स्रोतों पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। मौलिक प्रति के अभाव में आपके शोध पत्र को गंभीरता से नहीं लिया जाएगा। अत: शोध आलेख लिखने में निम्न बिंदुओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

शोध आलेख मे भी पाद टिप्पणियाँ देना चाहिए जिससे आलेख की विश्वसनीयता के साथ साथ उसकी गुणवत्ता भी बढ़ती है। पाद टिप्पणियों में अपने मत के समर्थन में प्राप्त मानक सामग्रियों तथा दूसरे मतों के खंडन के रूप में प्राप्त दिया जाता है। इसे पृष्ठ के नीचे देना चाहिए अथवा अध्याय के अंत में। शोध आलेख में उद्धाहरण देते समय उद्धाहरण चिन्ह का प्रयोग करना आवश्यक है। उद्धाहरण यदि किसी अन्य भाषा में उधृत किया जा रहा है तो मूल भाषा में ही उधृत करें। इसके साथ उसका अनुवाद दिया जा सकता है। संदर्भ में जहाँ से आप उद्धाहरण अथवा संकेत ग्रहण कर रहे हैं उसे पाद टिप्पणी में उधृत करना चाहिए। शोधार्थी को पाद टिप्पणियों मे एक रूपता बरतनी चाहिए। पाद टिप्पणियों से आपका आलेख प्रमाणित होता है तथा उसकी विश्वसनीयता बढ़ती है। किसी के कथन को तोड़ मरोड़ कर

लेख में नहीं डालना चाहिए। लेखकों में साहित्यिक सत्यनिष्ठता का होना आवश्यक है ताकि पाठकों के बीच एवं विद्वजगत में आपके लेखों की प्रमाणिकता पर प्रश्न चिन्ह न लगे।

शोध लेखों की लेखन शैली प्रौढ़ तथा साहित्यिक होना चाहिए। अनावश्यक एवं हल्के शब्दों के प्रयोग से शोध लेखक को बचना चाहिए। शोध लेख में जहाँ तक हो सके मैं और मेरा के प्रयोग से बचना चाहिए। उसके स्थान पर शोधार्थी/शोधकर्ता, प्रबंध लेखक शब्द का प्रयोग करना चाहिए। शोध पत्र मे मानक वर्तनी का प्रयोग करना चाहिए।

साहित्य समीक्षा आपको अपने पाठकों के साथ तालमेल बनाने में मदद करती है। शोध आलेख के लिए यह आवश्यक है कि पाठकों को यह भरोसा हो कि पत्र श्रमपूर्वक तैयार किया गया है। आपके शोध पत्र में नवीनता तथा मौलिकता का होना आवश्यक है। इसी सावधानी के लिए आलेख के रचनाकार को पाठकों तथा प्रकाशकों का विश्वास मिलता है। साहित्य समीक्षा लिखने के लिए आप जितनी अधिक किताबें, लेख और अन्य स्रोत सूचीबद्ध कर सकते हैं, उतना ही भरोसेमंद आपका आलेख होगा एवं आपकी विशेषज्ञता मानी जाएगी। शोध पत्र लेखक के लिए निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–

साहित्यिक चोरी से बचने की चेष्टा करें।

शोध पत्र लेखक को साहित्यिक चोरी से बचने की चेष्टा करनी चाहिए। इस क्रम में दोनो बातें हो सकती हैं। आपके आलेख की भी साहित्यिक चोरी हो सकती है। यदि आपने साहित्य सर्वेक्षण के बिना एवं विशेषज्ञता प्राप्त किए बिना अध्ययन के अपने क्षेत्र में एक मूल पत्र, एक शोध पत्र लिखा है और जब उस पत्र को आप प्रकाशित करने वाले होते हैं, तो पता चलता है कि किसी ने पहले से ही आपके जैसे विषय पर एक पेपर प्रकाशित कर लिया है। बेशक, आपने उस प्रकाशन से कुछ भी चोरी नहीं किया है। लेकिन फिर भी यदि आप उक्त शोध पत्र प्रकाशित करते हैं, तो लोग आपकी प्रमाणिकता पर शक करेंगे। ऐसी स्थिति में एक ही तरह के शोध को दोहराने के महत्व के बारे में स्पष्टीकरण देना भी आवश्यक होता है।

अपने शोध पर केन्द्रित हों।

जब आप बाहरी स्रोतों से तथ्य इकठ्ठा करते हैं तो आप अपने शब्दों में बाहरी स्रोतों के गम्भीर मूल्यांकन, संश्लेषण पर स्वयं को केन्द्रित करें। इस प्रक्रिया के माध्यम से आप अपने शोध की प्रासंगिकता को शोध संदर्भ में बनाए रखने में सक्षम होंगे। आपको पता होगा कि अन्य शोधकर्ताओं ने पहले से ही उस विषय पर कैसा काम किया है। इस प्रकार, अनुसंधान के विषय पर अंतर्दृष्टि और विभिन्न दृष्टिकोण प्रदान करके आप उस दिशा में अपने शोध को आकार देने में सक्षम होंगे।

तर्क संगत, ऐतिहासिकता तथा प्रामाणिकता की अपेक्षा।

अपने शोध पत्र के क्षेत्र के आधार पर, आपकी साहित्य समीक्षा विभिन्न रूप ले सकती है। विशेषज्ञता की दृष्टि से आपका शोधपत्र तर्कवादी समीक्षा, एकीत समीक्षा, ऐतिहासिक समीक्षा, और सैद्धांतिक समीक्षा पर आधारित हो सकती है। परस्पर विरोधी विचार प्रस्तुत करने के लिए भी एक तर्कसंगत समीक्षा लिखा जा सकता है। किन्तु इसके लिए शोध पत्र में व्यक्त विचारों के समर्थन करने के लिए भी अन्य विद्वानों का मत महत्वपूर्ण होता है। यह तर्क संगत, प्रामाणिकता की अपेक्षा रखती है।

उक्त बिन्दुओं पर ध्यान देने से आप एक सम्पूर्ण शोध पत्र तैयार कर सकते हैं जिसे विद्वत समाज द्वारा समादृत किया जाएगा तथा आप के लेख की विश्वसनीयता बढेगी। ऐसे लेख ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र के लिए 'मील का पत्थर' सिद्ध होगा तथा भविष्य के शोधार्थियों को मार्गदर्शन प्रदान करेगा।

इस अंक में अनेक महत्वपूर्ण लेख शामिल कर इसे उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है। आशा है पाठकों का स्नेह पूर्ववत मिलता रहेगा।

कलानाथ मिश्र

हिन्दी भाषा का विकास मुगलों एवं अंग्रेज शासन काल के परिप्रेक्ष्य में

प्रो. बलराम सिंह

अंग्रेजों के शासन काल में फारसी भाषा का राजकीय स्तर समाप्त हो गया, और हिन्दुस्तानी (उर्दू) भाषा जो कि फारसी लिपि में ही लिखी जाती रही आम जनता हिन्दू एवं मुसलमान की औपचारिक भाषा बनी रही। अंग्रेजो ने १८३७ ई में उर्दू को अंग्रेजी के साथ साथ एक सह राजकीय भाषा के रूप में मान्यता दी। इसी समय हिन्दुओ ने इस नीति का यह कहकर विरोध किया कि भाषा देवनागरी लिपि में ही लिखी जानी चाहिए ।

यह सर्व विदित है कि भारत की प्राचीन भाषा संस्कृत एवं प्राकृत रही है । संस्कृत और प्राकृत से आधुनिक हिन्दी भाषा की करीब दो हजार वर्ष की लम्बी यात्रा बड़ी रुचिकर एवं शिक्षा प्रद है। संस्कृत एवं प्राकृत की अपभ्रंश भाषाओं में अवधी, ब्रज भाषा, मैथली, भोजपुरी, पंजाबी, बंगाली इत्यादि भाषाएँ आती हैं । इन्हीं के साथ दिल्ली के आस पास पश्चमी उत्तर प्रदेश एवं दक्षिणी उत्तराखंड में बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी भाषा भी है। यही हिन्दुस्तानी भाषा जो की छठी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक विकसित हुई, आधुनिक हिन्दी तथा उर्दू दो भाषाओं की जननी है।

दिल्ली सल्तनत काल (१२०६–१५२६ ई) भारत की राजकीय भाषा फारसी थी और इसका प्रभाव हिन्दुस्तानी भाषा पर भी पड़ा । मुगल काल (१५२६ – १८५७ ई) में फारसी भाषा का प्रभाव तो बना रहा पर इसी के साथ उर्दू का भी विकास हुआ। उर्दू, जो की तुर्क शब्दावली है, का अर्थ है सेना। उर्दू हिन्दुस्तानी भाषा का वह रूप है जिसे मुगल सेना के सदस्य बोलते थे, अत: इस भाषा का नाम उर्दू पड़ा ।

उर्दू भाषा फारसी लिपि मे लिखी जाती है, जो की अरब अक्षरों पर आधारित है। इसी कारण उर्दू भाषा को प्राय: अरबी भाषा एवं संस्कृति से प्राय: जोड़ दिया जाता है। उर्दू

भाषा पूर्णतया भारतीय भाषा है, जिसकी क्रियाए संस्कृत भाषा पर आधारित है। व्याकरण में उर्दू की वाक्य रचना हिन्दी सहित भारत की अन्य भाषाओं के समान है, जिसमे कर्ता-कर्म-क्रिया का अनुक्रम होता है। इसके विपरीत अंग्रेजी भाषा मे कर्ता-क्रिया-कर्म का अनुक्रम होता है । उर्दू एक भारतीय भाषा होने के बावजूद भी जनमानस की भाषा नही रही । इसका मुख्य कारण था इसमे फारसी एवं अरब शब्दों का बाहुल्य। तथापि उर्दू मुगलई अदालतों की भाषा होने के कारण एक संभ्रात भाषा बन गई । भारत मे आज भी अदालती कार्यवाहियो में उर्दू शब्दावलियों जैसे मुकदमा, पेशकार, खारिज-दाखिल, वकील आदि शब्दो का अधिकांश प्रचलन है। यही उर्दू आधुनिक हिन्दी जिसे कि खड़ी बोली के रूप में जाना जाता है, की आधार भाषा बनी । उर्दू भाषा को हिन्दी , हिन्दवी एवं देहलवी नामों से भी जाना जाता था, अतः इसका सम्बन्ध हिन्दी भाषा से एक लम्बे समय से जुड़ा है ।

यदपि हिंदी का एक संपर्क भाषा के रूप में उभरना सराहनीय है, इसका भारतीय संस्कृति पर बुरा प्रभाव भी है. चूँकि संस्कृति भाषा की वास्तविक जननी होती है और भाषा एक संस्कृति का उदगार, भारतीय संस्कृति भारत की लोक भाषाओँ में ही सन्निहित है. अतः भारतीय लोक भाषाओँ का विकास ही भारतीय संस्कृति के लिए एवं हिंदी भाषा को एक संपर्क भाषा बनाये रखने के लिए उचित कदम हो सकता है।

अंग्रेजों के शासन काल में फारसी भाषा का राजकीय स्तर समाप्त हो गया, और हिन्दुस्तानी (उर्दू) भाषा जो कि फारसी लिपि में ही लिखी जाती रही आम जनता हिन्दू एवं मुसलमान की औपचारिक भासा बनी रही । अंग्रेजो ने १८३७ ई में उर्दू को अंग्रेजी के साथ साथ एक सह राजकीय भाषा के रूप में मान्यता दी । इसी समय हिन्दुओ ने इस नीति का यह कहकर विरोध किया कि भाषा देवनागरी लिपि में ही लिखी जानी चाहिए । इस तरह भाषा कि साम्प्रदायिकता बढ़ी और उर्दू मुसलमान की भाषा माने जानी लगी और देवनागरी लिपि मे लिखी जाने वाली खड़ी बोली हिन्दी भाषा बनी । औपचारिक रूप से हिन्दी भाषा का प्रादुर्भाव सर्व प्रथम बिहार मे १८८१ में एक आधिकारिक भाषा के रूप में हुआ ।

१९४७ के आसपास भारत विभाजन के समय उर्दू हिन्दी दरार और फैली । उर्दू पाकिस्तान की राज भाषा बन गई और हिन्दी भारत की राष्ट्रीय और कार्य कारी भाषा बनी । हिन्दी की संस्कृत निष्ठता बढ़ती गई और आज हिन्दी भारत मे एक संपर्क भाषा के रूप मे उभरी है। ज्ञातब्य है कि हिन्दी पूरे उप महाद्वीप की संपर्क भाषा बनने में सक्षम है क्योंकि पाकिस्तान एवं बँगला देश की प्रभावी भाषाए पंजाबी, सिंधी तथा बंगाली हिन्दुस्तानी (आधुनिक हिन्दी की जननी) भाषा से

निकली हैं । उल्लेखनीय है कि उर्दू पाकिस्तान की राष्ट्रीय भाषा होने के बावजूद केवल ८ प्रतिशत लोगों की भाषा रह गई है । बाकी लोग पंजाबी, सिंधी, बलोच, पख्तून आदि भाषाएँ बोलते हैं । हिन्दी बोलने वालों की संख्या भारत में भी ४०% से अधिक है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य बहुत पुराना नहीं है फिर भी इसके विस्तृत प्रभाव से इसकी आधुनिक क्षमता का परिचय मिलता है । हिन्दी की लोकप्रियता को बढ़ाने में स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४ –१८८३) एवं भारतेंदु हरिश्चंद्र (१८५० – १८८५) का मूलरूप योगदान रहा है । देवकी नंदन खत्री, मुंशी प्रेमचंद, महावीर प्रसाद द्विवेदी, जय शंकर प्रसाद इत्यादि साहित्यकारों ने आधुनिक हिन्दी की जड़ो को मजबूत किया। स्वतंत्रता संग्राम में हिन्दी समूचे भारत के स्वतंत्रता सेनानियों को एकत्र करने में सहायक सिद्ध हुई। आज हिन्दी का बोलवाला सारे विश्व में हो रहा है। भारत की आर्थिक, राजनैतिक, सामयिक एवं सांस्कृतिक संप्रभुता के विस्तार के साथ ही हिन्दी का प्रचार प्रसार निश्चित है ।

यदपि मुगल एवं अंग्रेज शासकों ने हिन्दी को प्रत्यक्ष बढ़ावा नही दिया, उनके फारसी, उर्दू बढ़ावा कार्यक्रम के वरोध में हिन्दी को बल मिला, जो कि आज समूचे भारत को एकता के सूत्र में बांधने का अद्‌भुत कार्य कर रही है ।

यदपि हिंदी का एक संपर्क भाषा के रूप में उभरना सराहनीय है, इसका भारतीय संस्कृति पर बुरा प्रभाव भी है. चूँकि संस्कृति भाषा की वास्तविक जननी होती है और भाषा एक संस्कृति का उदगार, भारतीय संस्कृति भारत की लोक भाषाओं में ही सन्निहित है. अत: भारतीय लोक भाषाओं का विकास ही भारतीय संस्कृति के लिए एवं हिंदी भाषा को एक संपर्क भाषा बनाये रखने के लिए उचित कदम हो सकता है।

प्रोफेसर बलराम सिंह, स्कूल ऑफ इण्डिक स्टडीज, इंस्टीच्यूट ऑफ एडवान्स साइंसेज, डार्टमॉउथ, मासाच्युसेटस

✧ ✧ ✧

खंजन नयन में सूरदास की जीवनी : तथ्यों की प्रामाणिकता

डॉ. चंचल बाला

अमृतलाल नागर जी ने सूरदास की जाति एवं वंश के बारे इतना नहीं बताया उसके पिता के नाम से पता चलता है कि वह सारस्वत ब्राह्मण थे। खंजन नयन में सूरदास की जाति ब्राह्मण बताई है इसका पता हमें तब चलता है जब कालूराम कहता है कि स्वामी जी आप भी तो ब्राह्मण है। तब वह कहते हैं कि मैं तो भिखारी हूँ अब मेरी कोई जाति नहीं। जिसके घर से मिलता है वही से खा लेता हूँ अब मेरी कोई जाति नहीं है।

खंजन नयन जीवनी नहीं जीवनीपरक उपन्यास है अत इसमें सूरदास के जीवन सम्बन्धी तथ्यों को कल्पना के सहारे इस प्रकार रचा गया है कि वे किसी भी जीवनी से बढ़कर प्रामाणिक ईप में उजागर होने लगते हैं वास्तविकता को जानने के लिए उपन्यासकार अमृतलाल नागर ने सूरदास से सम्बंधित अनेक स्थानों की यात्राएँ की हैं। साहित्य और इतिहास को पढ़ा है। सूरदास की रचनाओं में गहराई से झाँका है। मठों, मंदिरों से जानकारी प्राप्त की है। यहाँ तक कि खंजन नयन का अधिकांश भाग पारसौली आदि स्थानों पर बैठ कर लिखा है और इस प्रकार तथ्यों को उपन्यास कला लालित्य में ढालने का सराहनीय प्रयास किया है इसमें सूरदास के प्रति उनकी श्रद्धा भी शामिल है।

1. जन्म और जन्मस्थान

अमृतलाल नागर जी ने सूरदास का जन्म विक्रम संवत/ 35 वैसाख सुदी 5 बताया है। यह जन्म की तिथि उन्होंने सूरदास के मुँह से कहवाई है। वह तो सूरदास का जन्म इसी तिथि को मानते हैं। लेकिन दूसरे कुछ लोग उनके जन्म का समय कुछ और ही बताते है। वह अमृतलाल नागर की तरह नहीं बताते उनके बताने का ढंग कुछ और ही है। जिनमें कुछ तो जन, श्रुतियों के अनुसार बताते हैं **कि सूरदास**

महाप्रभु वल्लभाचार्य से केवल दस दिन छोटे थे अर्थात/ उनका जन्म वैशाख शुक्ल 1535 वि० (सन 1478) को मानते हैं बाबू राधाकृष्णदास ने सूरदास का जन्म संवत 1540 के लगभग माना है। श्री रामरतन भटनागर और श्री वाचस्पति त्रिपाठी भी सूरदास का जन्म संवत 1540 ई० में ही मानते हैं। डॉ० दीनदयाल गुप्त और डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा इन का जन्म संवत 1535 में ही मानते हैं। वह अमृतलाल नागर से सहमत है।[1] अमृतलाल नागर जी ने सूरदास का जन्म स्थान गोवर्धन के निकट परसौली ग्राम को बताया है। वैसे तो इनको सीही ग्राम का भी मूल निवासी मानते हैं। खंजन नयन में सूरदास ने परासौली सीही और ग्रनकता ग्राम का भी भ्रम किया कुछ लोग नागर जी के इस स्थान को सूरदास की जन्मभूमि न मानकर इनका जन्म स्थान और ही बताते हैं। जिनमें डॉ० पीताम्बर बवाल ने गोपाचल बताया है। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूर का जन्म स्थान इनकता माना है। इनकता को सूर का जन्म स्थान मानने की भ्रांति का कारण सम्भवत। सूरदास जी का गौ घाट पर रहने के कारण है। गोद्दल नाथ जी ने समकालीन प्राणनाथ कवि ने भी अष्टसखामृत में सूर का जन्म स्थान सीही माना है। लेकिन इतने लोगों के बताने के बावजूद भी अमृतलाल नागर के सीही ग्राम को ज्यादा महत्त्व प्रदान होता है ज्यादातर लोग उनका जन्म स्थान सीही ही मानते हैं। नागर जी ने अपने उपन्यास में सूर को विभिन्न नामों से पुकारा है। **जिनमें सूरज सूरस्वामी सूरश्याम सूरदास आदि अनेक ग्रप दिये हैं। सूरदास के पिता उनकों सूर्य नाथ और माता सूरज कहती थी। लेकिन ज्यादातर लोग बाबा स्वामी और भगत कहते थे।**[2] सूरदास के पदों में भी यहीं पाँच नाम आते हैं। आचार्य मुंशीराम शर्मा भी इन सभी नामों को महाकवि सूरदास के नाम बताते हैं। दूसरे लोग सूरदास के वास्तविक नाम को विवादास्पद मानते हैं। **कुछ लोग सूरदास का असली नाम सूरदास ही मानते हैं लेकिन कुछ लोग सूर सुजान सूर श्याम आदि मानते हैं। अमृतलाल नागर इन सभी नामों की पूर्ति न करके इनको भगत बाबा आदि नामों से पुकारते हैं। वह यह जग्ररी नहीं मानते कि सूर को इन नामों ते पुकारा जाये।** इस प्रकार नागर जी ने सूरदास के जन्म व जन्मस्थान को किंव दंतियों में न बताकर बिल्कुल साग-साग बताया है उनकी इस स्पष्टता को ही सर्वथा सार्थक माना गया है।

2. जाति एवं वंश

अमृतलाल नागर जी ने सूरदास की जाति एवं वंश के बारे इतना नहीं बतायाब उसके पिता के नाम से पता चलता है कि वह सारस्वत ब्राह्मण थे। खंजन नयन में सूरदास की जाति ब्राह्मण बताई है इसका पता हमें तब चलता है जब कालूराम कहता है कि स्वामी जी आप भी तो ब्राह्मण है तब वह कहते हैं **कि मैं तो भिखारी हूँ अब मेरी कोई जाति नहीं। जिसके घर से मिलता है वही से खा लेता हूँ अब मेरी कोई जाति नहीं है** खंजन नयन में सूरदास का विशेष वंश जाति नहीं बताई गई है कुछ अन्य लोगों ने सूर की जाति और वंश को विवादग्रस्त माना है। सूर की जाति वंश के लिए एक किंवदंती प्रचलित है **जिसमें सूर का वंश वृक्ष तथा तत्कालीन इतिहास ग्रंथ**

इस विषय को और भी उलझा देते हैं। इस वंश वृक्ष की पुष्टि महामहोपा, याय श्री हरि प्रसाद शास्त्री द्वारा भी की गई थी। उन्होंने अपने राजपुताने की यात्रा में चंद के वंश वृक्ष का पता लगाया था। जो चन्द के वंशधरों की नगौरी शाखा के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम से प्राप्त हुआ था। इस वंश वृक्ष में सूरदास के पिता का नाम रामचन्द्र दिया हुआ है। शास्त्री जी की खोज से इस किवंदंती को मानने वालों को और भी बल मिला और उन्होंने सूर की वंशवली निर्धारित कर डाली[3] आचार्य मुंशीराम जी ने यहाँ तक लिख डाला कि इस वंशावली के आधार पर हर प्रसाद शास्त्री ने सूर के पिता का नाम रामचन्द्र लिखा है। जो वैष्णव भक्ति के अनुसार रामदास बन जाता है। आर्य जाति के लिए सच्ची वीरता के आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ही है। सूरदास की जाति का निर्णय भी इसी पद के अनुसार करते हैं कि चन्दवरदाई भाट थे और उन्हीं के वंशज होने के कारण सूर को भाट माना गया हैब **डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा ने उन्हें ब्राह्मणेतर सिद्ध करने के लिए अन्त साक्ष्य का सहारा लिया है वह भी सूर को ब्राह्मण मानते आचार्य मुंशीराम शर्मा भी चन्दवरदाई को भट्ट ब्राह्मण बताने के लिये सूर को भट्ट ब्राह्मण ही मानते हैं।** वास्तव में सूरदास न तो भट्ट ब्राह्मण थे और न ढाठी या जगा जाति के थे। सूर को सारस्वत ब्राह्मण ही मानना चाहिए इसकी पुष्टि इस बात से और भी हो जाती है कि दिल्ली के आसपास सारस्वत बाह्मण ही रहते थे कुछ लोगों ने तो इसकी जाति का प्रश्न ही नहीं उठाया क्यों कि अमृतलाल नागर जी ने भी उनकी जाति और वंश के बारे ज्यादा नहीं बतायाब बस यह कह कर ही पुष्टि कर दी है कि सूर ब्राह्मण थे। यहाँ तक उनके गृहस्थ जीवन का प्रश्न है इन्होंने बस उनके प्यार के बारे बताया है कि उनका प्रेम एक कुरुप और देहाती लड़की कंधो से हो जाता है जो बाद में उनको मझदार में ही छोड़कर स्वर्गवास हो जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सूरदास न तो गृहस्थी थे और न उनका कोई किसी से सम्बन्ध था। लेकिन कुछ दूसरे लोग सूरदास को गृहस्थी मानते हैं। **डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा इनके गृहस्थ होने की कल्पना करते है। नागर जी ने यह तथ्य बिल्द्दल वास्तविक और सत्य ही बताया है इसमें जरा सी भी कल्पना नहीं हैं।**

3. अंधत्व

अमृतलाल नागर ने सूरदास को जन्मान्ध ही माना है वे मानते हैं कि सूर जन्म से ही अन्धो थे। इस उपन्यास में सूरदास से शुरु में ही जब गौड। ब्राह्मण पूछता है तुम शद्दन विधा ते परिचित हो तो तब सूर कहते हैं। **कि मैं तो जन्मान्ध निपट गँवार हूँ महाराजब एक सन्यासी गुरु जी की से कुछ मीन मेख विचार लेता हूँ**[4] अन्धे होने के कारण ही उनके घर में माँ के सिवाय कोई प्यार नहीं करता था इसलिए उन्होंने बचपन में ही घर को त्याग दिया था। इस प्रसंग से भी साग जाहिर हो जाता है कि सूरदास जन्म से ही अन्धे थे। लेकिन कुछ लोग सूर को जन्मान्ध नहीं मानते और कुछ लोग इनको वृधावस्था में अन्ध मानते हैं। जिसमें गोस्वामी हरिराय जी कहते हैं **कि सूरदास सिलपट्ट अन्धे थे उनकी भौंहें अवश्य थी पर आँखों के गढेलाइ नाथ नये**

पंडितगण कहते हैं कि अति सूक्ष्म चितेरे महाकवि ने किसी न किसी आयु सीमा तक यह दुनिया अपनी आँखों से अवश्य देखी होगी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी भी इसी मत को मानते हैं इन्होंने अपने इस मत की पुष्टि लिये एक श्रुति बताई है कि हैलेन केलर बेचारी तो अंधी होने के साथ साथ जन्म में बहरी भी थी। इस प्रकार नागर जी ने सूरदास की जन्म को आधारौ माना है उनकी इस बात की पुष्टि से उनके जन्म से अन्धे होने का प्रश्न नहीं उठता कुछ लोग यहाँ तक कहते हैं कि इन्होंने श्री गोद्दल और श्रीनाथ जी के दर्शन किये थे यदि इस हिसाब से देखा जाये तो इस समय तक सूरदास का दृष्टिहीन होना न माना जाएगा सूरदास के संबंध में और भी जितनी साक्षियाँ हैं उनमें उनके अन्धे होने के सम्बंध में कई चमत्कारपूर्ण बतों का कथन है। किसी में उनके अन्धे होने की सम्बंध में कई चमत्कारपूर्ण बातों का कथन है। किसी में उनके अन्धे होने की परिस्थिति का वर्णन है। तो किसी में उनकी दिव्यदृष्टि की साक्षी दी गई है। जनश्रुतियों का विवेचन करते हुए हमने इस कथनों के मूलभाव को समझने का प्रयत्न किया है।

सूरदास ने अपनी रचनाओं में खंजन नयन में अन्धे निपट अन्धे होने का तो कई स्थलों पर उल्लेख किया है परन्तु यह नहीं कहा कि वे जन्मांध थे अथवा अमुक अवस्था में अंधे हुए थे यह कोई महत्त्व की बात नहीं कि वह जन्मांध थे या बाद में अंधे हुए। इतना सबको मान्य है कि वह अन्धे थे। इस प्रकार अमृतलाल नागर का यह कथन बिल्द्दल सत्य है कि सूरदास अन्धे थे।

4. शिक्षा, दीक्षा

खंजन नयन में सूरदास की शिक्षा, दीक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है। सूरदास जी ने छोटी आयु में घर बाहर छोड़ दिया था घर छोड़ने के बाद उनकी मुलाकात सन्यासी गुरु जी से हुई जिनसे उन्होंने विद्या ग्रहण की। इससे पहले इन्होंने अपने पिता से घर में ही संगीत विद्या ग्रहण की। **सन्यासियों से मिलने के बाद उनकी मुलाकात पंडित सीताराम से हुई जिनसे इन्होंने ज्योतिष तंत्र आदि का ज्ञान प्राप्त कियाब उन्होंने सूर से कहा अंधत्व अपने आप में एक बड़ी साधना है पुत्र विद्या की लाठी ऐसे साधक के साथ में रहनी ही चाहिए।**[5] सूरज ने बहुत पीछा छुड़ाया परन्तु पंडित सीताराम का स्नेह अपने साथ खींच ही लायाब यात्राकाल में ही अंधे सूरज ने नया ज्ञान प्रकाश पाया था। गुरु अपने शिष्य की बुद्धि प्रखरता से बड़े प्रसन्न थे। अन्धे सूरदास को ऐसा अयाचित अगाध स्नेह दान पहले कभी नहीं मिला था। पिता ने संगीत का ज्ञान तो दिया किन्तु मारपीट के साथब इसके बाद वे स्वामी नाद ब्रह्मानंद के सम्पर्क में आये। गिर उनसे भी गायन विध सीखी काव्य और संगीत दोनों में वे साधारण रुप से व्युत्पन्न थे। इसके बाद पंडित सोमेश्वर जी से साहित्य ज्ञान प्राप्त किया और गिर ब्रह्मानंद जी के वापिस आने के बाद उनसे

शिक्षण ग्रहण किया। इतनी मुश्किलों का सामना करके और भाईयों से लड़कर भी इन्होंनें अपना अध्ययन पूरा किया। वह किसी की नहीं सुनते थे अपने मन की करते थेब **सूरज ने अपनी दर्द स्मृति में अपनी रचना को स्वर में गायाब मानों कोठरी अपने में ही दर्द से भर उठी हो गिर इनकी भेंट विट्ठलनाथ से हुई उन्होंने सूर राधाकृष्ण प्रसंगों को सुना और बहुत खुश हुए कुछ दूसरे लोगों ने सूर ही शिक्षा के बारे में लिखा है कि सूर उच्चकोटि के भक्त थे महाप्रभु से भेंट होने के पूर्व ही वे विरागी और संभ्रात भक्त के रुप में भगवद/ भजन करते हुए गउघाट पर रहते थे।** वे इतने विज्ञ और अनुभवी थे **कि उन्होंने तीन चार दिन में ही श्री मद/भागवत और सुबोधिनी का वास्तविक भाव दयंगम कर लिया था उन्हें तत्कालीन दार्शनिक सिद्धांतो का यथार्थ ज्ञान था अपने सम्प्रदाय की भक्ति भावना का जैसा विशद और व्यावहारिक रुप उनके काव्य में मिलता है। वैसा कदाचित/ अन्यत्र दुर्लभ है।** बल्लभाचार्य भी सूरदास जी के गुरु थे उन्हें वे अपने इष्टदेव कृष्ण के समान पूजते थे। इसके बाद वे बल्लभम्प्रदाय में सम्मिलित हो गयेब सूर ने अपना सारा जीवन अपने गुरु से दीक्षा प्राप्त करने के लिए और उनकी सेवा करने में ही बिताया इस प्रकार अमृतलाल नागर जी ने सूर की शिक्षा के बारे में खंजन नयन में बहुत विस्तृत से बताया है जो बिल्द्दल सत्य है इसमें जरा सी भी कल्पना नहीं भरी हुई है।

5. जीवन के संघर्षमय प्रसंग

सूरदास को अपने जीवन में बहुत संघर्ष करना पड़ाब सच कहो तो उनका सारा जीवन ही संघर्ष में बीता 6 वर्ष की आयु में घर छोड़ दिया था क्योंकि घर में भाईयों के ईर्ष्या के भाव से तंग आ चुके थे। अन्ध होने के कारण नॉव के उल्ट जाने से वह नदी में डूब गया परन्तु भगवान की दया से नॉव वाले कालूराम ने बचा ही लियाब सूर को शिक्षा प्राप्त करने में कागी संघर्ष करना पड़ा जब वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए पंडित सोमेश्वर जी के घर जाने लगे तो भाईयों ने इसका विरोध किया परन्तु सूर प्रात: और सायं दो टाईम सदा चल कर उनसे चोरी जाते थे। जीवन में भी कागी संघर्ष करना पड़ा जब उनकी मेंट कंतो से हुई तब वे दोनों एक पठानों के गांव में गये तो वहाँ के बुदबुदी मौलवी ने सूर को खूब मारा और कंतो को तो जान से खत्मकर दिया और सूर को कोल्हू पर लगा दिया। **इस पर सूर सोचने लगे यह जन्म ही केवल मुझे दु:ख भोगने के लिए मिला है मैं तो अभागा हूँ पता नहीं आगे क्या-क्या देखना पड़ेगा।** कंतो जो कि सूर का पूरा साथ देती थी उसका साथ छूट जाने के कागी मुश्किलों का सामना करना पड़ाब सूर ने कागी भ्रम किया एक शहर से दूसरे शहर गये अयोध्या से मथुरा और मथुरा से बनारस इस प्रकार गाँव-गाँव में जा जाकर गाना बजाना करके अपनी रोटी कमा लेते थे। सूर को जन्म से लेकर मृत्यु तक संघर्ष ही करना पड़ाब सूर ने शायद ही कोई पल हो जो सुख से बिताया हो। दूसरे लोगों ने भी बात का स्वीकार किया है कि सूर का जीवन संघर्षमय था।

6. भक्ति और आस्था

सूरदास एक उच्चकोटि के भक्त थे इन्होंने अपने काव्य में अधिकतर भक्ति के रुप को लिया और राधाकृष्ण की भक्ति के दोहे लिखे हैं। परसौली में सूरदास जी ने राधा गोपियों के विरह के पदों को लिखा सूरदास जी ने राधाकृष्ण के परिचय के पद विट्ठलनाथ जी को सुनाए थे। इस प्रकार हैं। **गोरी तुम कौन हो कहाँ रहती हो। मैंने पहले तो तुम्हें ब्रज खोरि में कभी नहीं देखा। मैं भला ब्रज में क्यों आती हमारे घर में क्या खेलने की जगह नहीं है।**[6] इसको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए राधा और कृष्ण सूर की सिद्धि में नित्य नवोन्मेष भरते रहे सूर की भक्ति में श्रृंगार वर्णनध वात्सल्य वर्णन भी है। सूरदास जी ने साधारण भक्ति साधना में भक्ति निरुपण और भक्ति के साथ वैराग्य को जरुरी माना वैराग्य को सूरदास जी भक्ति का साधक मानते हैं उन्होंने स्पष्ट लिखा है।

भक्ति बिना जो कृपा न करते तो ही आसन करती
साधु सील ब्रदूप पुरुष को अपजस बहु उच्चरती
औधड़असत कुचीलनि सौ मलिध माया जल में तरतौ

भक्त वत्सलता का भी निरुपण उनके काव्य में हुआ है सूर के काव्य में कृष्ण चरित्र के विलासमय चित्र और श्रृंगार रस की मादकता का जैसा संचार हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेमाभक्ति का भी सर्वोच्च स्थान है। इस तरह अमृतलाल नागर जी ने सूर की भक्ति और आस्था का स्पष्ट विवरण किया है उनकी आस्था कृष्ण में ही थी वह उसे अपना इष्टदेव मानते थे वह उनकी सच्ची साधना करते थे। कोई भी काम उसकी भक्ति के बिना नहीं करते थे जब नाव उलट जाती है तो वह उसी श्याम को याद करते हैं वह कहते हैं **अगर श्याम ने जिन्दा रखना है तो वह बचा लेगा जब वह बच जाते हैं तो वह कृष्ण की लीला का ही गुण गान करते हैं।** इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास की आस्था कृष्ण में ही थी। यह नहीं कि वह दूसरे देवी देवताओं को नहीं मानते थे वह शिव पार्वती आदि की भी उपासना करते थे। इस प्रसंग के बारे दूसरे लोगों ने कम ही बताया है। नागर जी का यह कथन बिल्द्दल सार्थक एवं सत्य है।

7. महामानवीय रुप

अमृतलाल नागर जी ने सूरदास को एक महान/ आत्मा बताया है। अन्धे होने के बावजूद भी इन्होंने इतनी ख्याति अर्जित की और रचनाओं की सृजना की इतनी प्रशंसा शायद कोई ठीक व्यक्ति भी प्राप्त न कर सकता हो लेकिन सूर तो सूर थे। भगवान का सान्निध्य प्राप्त कर चुके थे। सूरदास जी बहुत नर्मदिल के थे। जब गोस्वामी जी कहते है। **कि तुम मुझे श्री राधाकृष्ण मिलन और केलि प्रसंगों के पद सुनाने की कृपा करे तो कहते हैं कि ऐसा मत कहें मैं आप से छोटा हूँ आपकी इच्छा मेरे लिए आदेश हैं।**[7] सूर ने जिस,जिस का साथ प्राप्त किया उसका उसी के साथ प्रेम हो गयाब वह किसी को भी छोटा बड़ा नहीं मानते और जाति, पाति का भेद भाव भी नहीं रखते थे। उनका रुप वर्णन और उनकी भक्ति और उनकी रचनायें स्वयं उनका इतिहास बताती

है कि सूरदास एक सच्चे भक्त थे वह किसी से भी इर्ष्या द्वेष नहीं रखते थे। दूसरे लोगों ने भी सूरदास के इस रुप की प्रशंसा की है। इसलिए नागर जी का यह कथन बिल्द्दल सार्थक है कि सूरदास का मानव के रुप में भक्त के रुप में बहुत महान स्थान था।

8. देहावसान

अमृतलाल नागर जी ने अपने उपन्यास खंजन नयन सूरदास का वेदावसान परासौली में बताया है इन्होंने उनकी मृत्यु की कोई तिथि नहीं बताई लेकिन यह बिल्कुल ठीक है कि उनका देहान्त परासौली में ही हुआ था। जब उनकी मृत्यु का समय आया तो वह अपने आखिर तक गाते रहे और यही गाया।

खंजन नैन रुप रस माते

सूर में बंसी राधा के नेत्रों की वृत्ति खंजन पक्षी की नेत्रों के समान ही चंचल हो रही थी। गायक का त्वर खंजन के चंचल नेत्रों की तूलिका सा चित्रित कर रहा था। सूर ने मरते समय सबको हाथ जोड़े जो जो उनके पास थे गोपाल चतुर्भुजदास छंदनदास और मुख से अंतिम शब्द यही निकलेब श्री कृष्ण शरण ममब[8] इससे पता चलता है कि उनकी ज्यादा आस्था कृष्ण में थी। कुछ दूसरे लोग सूरदास के देहान्त के बारे में भी विवादग्रस्त हैं क्योंकि नागर जी ने तो उनके देहान्त का समय ही नहीं बताया सिर्फ स्थान ही बताया है। मिश्रबन्धुओं ने सूर का निधन संवत/ 1620 माना है। आचार्य शुक्ल के इनका देहान्त संवत 1620 ही माना है। इसलिए सूरदास जी का देहावसान परासौली में सृं 1840 के लगभग ही मानना चाहिए।[9] नागर जी ने ही सिर्फ स्थान बताया है लेकिन दूसरे लोगों ने इनकी मृत्यु का स्थान नहीं बताया इस प्रकार कहा जा सकता है कि नागर जी का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि उनका देहावसान परासौली में ही हुआ था।

सहायक ग्रंथ

1. हरवंश लाल शर्मा सूर और उनका साहित्य अलीगढ़। भारत प्रकाशन 2015 पृ 15
2. अमृतलाल नागर खंजन नयन दिल्ली। राजपाल एंड संज 1981 पृ 140
3. हरवंश लाल शर्मा सूर और उनका साहित्य अलीगढ़। भारत प्रकाशन 2015 पृ 25
4. अमृतलाल नागर खंजन नयन दिल्ली। राजपाल एंड संज 1981 पृ 140
5. वही पृ 16
6. वही पृ 2 140
7. वही पृ 223
8. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा सूरसागर वाराणसी। जन्म मण्डल लिमिटेड 1988
9. डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा दृष्टि एवं विमर्श इलाहाबाद। हिन्दोस्तानी अकैडमी 2010

डॉ. चंचल बाला, सहायक प्रोफेसर हिन्दी विभाग
खालसा कॉलेज गारुर विमेनध अमृतसर पंजाब

दक्षिण भारत में हिन्दी की स्थिति : सामाजिक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में

सुरेश कुमार मिश्रा

हिंदी भाषा की स्थिति को हम दो भागों से बाँट सकते हैं। एक, हिंदी भाषी प्रांत और दूसरा है- हिंदीतर प्रांत। हिंदीतर प्रांत में विशेष रूप से दक्षिण भारत पड़ता है। यहाँ तेलंगाणा, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु जैसे भू-भाग वाले राज्य हैं तो वहीं पांडिचेरी, अंडमान निकोबार और लक्षद्वीप जैसे केंद्रशासित प्रदेश भी हैं। अब सवाल यह उठता है कि यहाँ हिंदी की स्थिति कैसी है? स्वाभाविक है कि क्षेत्रिय भाषाओं की तुलना में हिंदी का प्रचार-प्रसार कम है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि दक्षिण भारतीयों का हिंदी से सरोकार नहीं है।

कैसी अजब उलझन है, मुझी से मेरी अनबन है।
होठ हैं खामोश, मगर बोल रही धड़कन है।
लाख प्रयत्न कर ले अंग्रेजी, चाहे कुछ भी कर ले,
साथ न छोडूँ हिंदी तेरा, तू तन, तू मन, तू धन है।।।

कवि 'उरतृप्त' की उपर्युक्त पंक्तियाँ उन लोगों की सच्चाइयों को बयान करती हैं जो अंग्रेजी के नकली मुखौटे के पीछे अपनी वास्तविक स्वरूप वाली हिंदी को छिपाने का प्रयास करते हैं। भारत की सवा सौ करोड़ जनसंख्या में दो-तिहाई लोग हिंदी में उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हैं। हाँ यह अलग बात है कि प्रशासनिक कार्यों के चलते उन्हें अंग्रेजी का सहारा लेना पड़ता है, किंतु उसका यह अर्थ नहीं कि वे अंग्रेजी के गुलाम हो गए। जैसे किसी के घर पर जाकर पानी पी लेने या भोजन कर लेने से हम उस घर के मूल सदस्य नहीं बन जाते, उसी तरह अंग्रेजी का थोड़ा-बहुत उपयोग कर लेने से हम अंग्रेज नहीं बन जाते। वास्तविकता तो यह है कि हिंदी हमारे तन, मन और साँसों में बसी है। रग-रग में हिंदी का रक्त संचार है। हिंदी से हमें अलग करने का अर्थ है जीते जी प्राण हरण कर लेना। आज दुनिया के मानचित्र में केवल भारत का मानचित्र नहीं दिखाई देता, बल्कि उस मानचित्र के साथ हिंदी की वैभवशाली परछाई भी दिखायी देती है। यह सच्चाई दुनिया भी अच्छी तरह से जानती है। आज भारत के अलावा बंग्लादेश, नेपाल, म्यांमार, भूटान, फिजी, गुयाना, सूरीनाम, त्रिनिडाड एवं टुबेगो, दक्षिण अफ्रिका, बहरीन, कुवैत, ओमान, कत्तर, सऊदी अरब गणराज्य, श्रीलंका, अमरीका, इंग्लैंड, जर्मनी, जापान, मॉरिशस, आस्ट्रेलिया

आदि देशों में हिंदी की माँग बढ़ती ही जा रही है। विदेशों में भी हिंदी की रचनाएँ लिखी जा रही हैं, जिससे वहाँ के साहित्यकारों का भी विशेष योगदान है। ये हम सब के लिए गर्व की बात है कि विदेशों में भारतीयों से आपसी व्यवहार करने के लिए वहाँ के लोग भी हिंदी सीख रहे हैं। इस तरह हिंदी की माँग आज विश्वभर में बढ़ती जा रही है।2

यह तो रहा सिक्के का एक पहलू। दूसरा पहलू यह है कि बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से ही भारत के संदर्भ में एक कथन अक्सर दोहराया जा रहा था- भारत राष्ट्र बनने की प्रक्रिया में है (INDIA IS IN THE PROCESS OF BECOMING A NATION) या भारत के एक राष्ट्र में कई राष्ट्र हैं (NATION WITHIN NATION) सर जॉन स्ट्रेची, अपनी 'इण्डिया' नामक पुस्तक में कुछ इन्हीं संदर्भो में अपनी बातों को रखते हुए दिखायी देते है - 'हिंदुस्तान महज एक सुविधाजनक नाम था, यह एक विशाल क्षेत्र का नाम था जिसमें कई राष्ट्र साथ-साथ रह रहे थे।'3 उनके अनुसार यूरोप के देशों में आपसी फर्क जितना ज्यादा नहीं था उससे कहीं ज्यादा फर्क हिंदुस्तान के इलाकों के बीच था। स्ट्रेची ने कहा था कि, 'पंजाब और बंगाल की तुलना में स्काटलैंड और स्पेन ज्यादा नजदीक हैं।'4 अत: हम कह सकते है कि चाहे पंजाब हो या बंगाल, महाराष्ट्र हो या मद्रास इन्हें एक राष्ट्र अर्थात् भारत को भारत बनने की प्रक्रिया में कई चरणों से होकर गुजरना पड़ा होगा और उत्पन्न परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप यहाँ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक उथल-पुथल और परिवर्तन की एक लहर निरंतर एवं निर्बाद्ध रूप से चलती रही होगी जो आज 21वीं सदी में भी प्रवाहमान है।

हिंदी भाषा की स्थिति को हम दो भागों से बाँट सकते हैं। एक, हिंदी भाषी प्रांत और दूसरा है- हिंदीतर प्रांत। हिंदीतर प्रांत में विशेष रूप से दक्षिण भारत पड़ता है। यहाँ तेलंगाणा, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु जैसे भू-भाग वाले राज्य हैं तो वहीं पांडिचेरी, अंडमान निकोबार और लक्षद्वीप जैसे केंद्रशासित प्रदेश भी हैं। अब सवाल यह उठता है कि यहाँ हिंदी की स्थिति कैसी है? स्वाभाविक है कि क्षेत्रिय भाषाओं की तुलना में हिंदी का प्रचार-प्रसार कम है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि दक्षिण भारतीयों का हिंदी से सरोकार नहीं है। सच तो यह है कि दक्षिण भारतीय हिंदी का उपयोग न केवल बोलचाल के लिए बल्कि अध्ययन के लिए भी करते हैं। यही कारण रहा है कि कई रचनाएँ तो ऐसी हैं जिसके सामने हिंदी भाषी रचनाकारों की रचनाएँ पानी भरती हैं। बुरहानुद्दीन 'जानम' दक्षिण के बहुत बड़े सूफी कवि हुए हैं। यदि हिंदी में उनके छंदों के ज्ञान का परीक्षण किया जाए तो दाँतों तले उँगली दब जाती है। एक स्थान पर लिखते हैं-

तेरे पंथ कोई चल न सके, जो चले सो चल-चल थके।।
पढ़ पंडित पोथी ढोयाँ। सब जाना सुध बुध खोयाँ।।5

दक्षिण भारत में हिंदी की स्थिति को समझने के लिए उसके सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य समझने होंगे। कदाचित यह प्रश्न धर्मवीर भारती के मस्तिष्क में पहली बार कौंध होगा। यही कारण है कि एक स्थान पर वे कहते हैं- हमारे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम ने हमें पराजय का मुँह इसलिए दिखाया कि हमारे बीच संपर्क की 'एक भाषा' का अभाव था। इस कमी को बाद के राजनेताओं और विचारकों ने भी महसूस किया और 'राष्ट्रभाषा' हिंदी को राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक एकात्मकता के रूप में स्वीकार्यता और मान्यता प्रदान की है। इस दिशा में स्वामी दयानंद सरस्वती,

केशवचंद्र सेन, राजगोपालचारी, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी ने पहल की और ये सभी हिंदीतर भाषा-भाषी थे।6

दक्षिण भारत की पृष्ठभूमि शेष भारत की तरह वंश, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, जाति, संप्रदाय, समुदाय, सामाजिक समूह, आर्थिक स्थिति, योग्यता के स्तर, और राजनीतिक झुकाव के स्तरों के माध्यम से प्रभावित है। पारम्परिक रूप से, विविधता को कभी-कभी अंतर के रूप में और 'समस्या' को संसाधन न मान बाधा, के रूप में महसूस किया जाता है। इसीलिए तेलुगु भाषी हिंदी के प्रसिद्ध लेखक रमेश चौधरी आरिगपूडि कहते हैं भारतीय भाषाओं में हिंदी का विशेष स्थान है, इस विशेष स्थान की अधिकारी वह तभी होगी, जब वह अपने कलेवर में, हाड़-मांस में, स्नायु जाल में दूसरी भाषाओं के साहित्य और जीवन मूल्यों के रक्त संचारित करेगी।7 इसी आशय से जुड़ी 'दिनकर' कविता अत्यंत संदर्भोचित लगती है-

जिस जिस भारत के सभी लोग
अपनी पसंद से चुनी हुई सबकी बोली
हिंदी को अपनी जानेंगे
जानेंगे केवल नहीं, वरन् आसानी से हिंदी में करके काम-काज सुख मानेंगे
बस, उसी दासत्व न रहने पाएगा
बस, उसी दिन सच्चा स्वराज्य आ जाएगा।।8

राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य की तुलना में दक्षिण भारत में सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर हिंदी की स्थिति थोड़ी भिन्न है। किंतु ध्यान देने वाली बात यह है कि राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी की स्थिति सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में अमूमन एक जैसी ही है। हिंदी और दक्षिण भारतीय भाषाओं में बोलियों की कमी नहीं है। भारत के पूर्व राष्ट्रपति बाबू राजेंद्र प्रसाद ने कहा था कि यहाँ दो कोस पर बदले पानी चार कोस पर बानी। दक्षिण भारत में बहुत सारी बोलियों में साझा किए जाने वाले विचारों को व्यापक मंच प्रदान करने की दो ही भाषाएँ हैं। एक, हिंदी और दूसरी अंग्रेजी। चूँकि हिंदी बोलने वालों की संख्या आज भारत में सबसे अधिक है, इसलिए दक्षिण भारत में हिंदी भाषा के मंच से अपने विचारों को दूर-दूर तक पहुँचा रहे हैं। पूर्व में हिंदी के प्रति दक्षिण में काफी विरोध था। इसका बहुत बड़ा कारण यहाँ की राजनीतिक स्थितियाँ थीं। यहां के राजनीतिक दल हिंदी भाषा के बहाने उत्तर भारतीयों पर अपनी भड़ास निकालने का प्रयास करते थे। इससे उनकी राजनीतिक रोटियाँ सेंकी जाती थीं। किंतु अब परिस्थितियाँ बदल रही हैं। आज राजनीति अपनी सीमाएँ तोड़कर सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दायरों में सेंध लगा रही है। आज जनसामान्य जो आगे चलकर नेता, अभियंता, चिकित्सक, या कुछ और बनना चाहता है, वह हिंदी के प्रति विशेष लगाव दिखा रहा है। भारत की राजभाषा हिन्दी दुनिया में दूसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। बहु भाषी भारत के हिन्दी भाषी राज्यों की आबादी 46 करोड़ से अधिक है। 2011 की जनगणना के मुताबिक भारत की 1.2 अरब आबादी में से 41.03 फीसदी की मातृभाषा हिंदी है। हिन्दी को दूसरी भाषा के तौर पर इस्तेमाल करने वाले अन्य भारतीयों को मिला लिया जाए तो देश के लगभग 75 प्रतिशत लोग हिन्दी बोल सकते हैं। भारत के इन 75 प्रतिशत हिंदी भाषियों सहित पूरी दुनिया में तकरीबन 80 करोड़ लोग ऐसे हैं, जो इसे बोल या समझ सकते हैं। इन सभी

कारणों से दक्षिण भारत में हिंदी की पैठ बढ़ती ही जा रही है।9

राजनीति, एक कुटिलनीति है। इसमें सही को गलत और गलत को सही बताकर अपना उल्लू सीधा करने वाला कुशल राजनीतिज्ञ माना जाता है। यही कारण रहा है कि तमिलनाडु, कर्नाटक जैसे राज्यों में हिंदी का विरोध मात्र राजनीतिक दुरोद्देश्य के लिए किया जाता है। जबकि जमीनी सच्चाई यह है कि इन प्रांतों में हिंदी के प्रति गहन शोध कार्य और मूल्यपरक साहित्य की रचनाएँ हो रही हैं। इसका प्रमाण हमें तेलुगु से हिंदी में अनूदित विश्वनाथ सत्यनारायण की 'वेय्यिपड़गलु' (सहसफ्रण), पुट्टपर्ति नारायणाचार्य की 'शिवतांडवम्', देवुलपल्ली दृष्णशास्त्री की 'दृष्णपक्ष-प्रवास-उर्वशी', नंडूरी वेंकटसुब्बाराव की 'वेंकी पाटलु वेंकी के गीत', श्री श्री रंग श्रीनिवास राव की 'महाप्रस्थानम्', आलूरि बैरागी की 'नूतलो गोंतुकलु' (कुएँ में आवाजें), सी. नारायण रेड्डी की 'विश्वभंरा', मानेपल्ली हृषिकेश राव की 'कोय्यल गुर्रम' (काठ का घोडा) रचनाओं से मिलता है। तमिल के कवि कंबदासन हिंदी के सुकुमार कवि पंत जी की रचनाओं से प्रभावित थे। उनकी रचनाएँ 'भारती चरितम' में पल्लव की झाँकी दिखायी देती है। कन्नड़ के प्रसिद्ध कवि 'श्री' का कविता संग्रह 'होगनसुगलु' (सुनहरे स्वप्न), गुंडप्पा की 'वसंत कुसुमांजलि', बेंद्रे की 'कृष्ण मुरारी', 'पंख', 'मूर्ति' रचनाएँ अत्यंत प्रसिद्ध हुईं। मलयालम में वी. टी. भट्टतिरिप्पाड की 'अटुक्कलयिल', 'निन्नु अरंगतेक्कु', 'ऋतुमती' और 'पाट्टबाकी' हिंदी साहित्य से प्रभावित रही हैं। चूँकि अधिकांश भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत है, इसलिए हिंदी को दक्षिण भारत में पैठ बनाने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। हिंदी की प्रगतिवादी कविता का मलयालम अनुवाद देखने पर आपको पता चलता है कि दक्षिण के साहित्यकार हिंदी से स्वयं को जोड़ने के प्रति लालायित हैं-

श्वानों को मिलता दूध, वस्त्र, दही बच्चे भूखे अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से ठिठुर चिपक, जाड़ों की रात बिताते हैं।।
मलयालयम के रामपुत्तवारियर ने इसी संदर्भ में लिखा है-
क्षुत्क्षामास्तनया: (शिशव:) लशवाइव।10

सन् 1956 के बाद से भारत में भाषावार राज्यों का गठन आरंभ हुआ। अन्य शब्दों में कहें तो मातृभाषा के प्रति मादकता सिर चढ़कर बोल रही थी। मातृभाषा के प्रति मादकता रखना कोई पाप नहीं है। किंतु इस मादकता के द्वारा हिंसा भड़काई जाए, यह अपराध है। महात्मा गाँधी ने सन् 1918 में ही घोषित कर दिया था कि यदि भारत को एक सूत्र में बाँधने का काम कोई भाषा कर सकती है तो वह हिंदी है। गाँधी जी के असंख्य दक्षिण भारतीय अनुयायियों ने इसे अपनाया। यहाँ तक कि गाँधी जी ने अपने सबसे छोटे पुत्र देवदास गाँधी को हिंदी की सेवा में लगा दिया था। उन्हीं के परिश्रमवश दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा का उद्घाटन मद्रास में हुआ। यह उनकी दूरदर्शिता का प्रमाण नहीं तो और क्या है?

वर्तमान राजनीति के संदर्भ में दक्षिण भारत में हिंदी की स्थिति विचार किया जाता है तो किसी प्रकार का अंतर नहीं पाया जाता है। चाहे उत्तर हो या दक्षिण, या फिर पूर्व हो या पश्चिम, भारत की वर्तमान राजनीति का स्वरूप भाई-भतीजावाद, स्वार्थ-लोलुपता से युक्त अखाड़ा बनने का वास्तव सामने आता है । देश के राजनेता जनता को केवल आश्वासनों के गुब्बारे थमा रहे हैं ।

आक्रोश या सत्ता के बदलाव पर फिर से वही व्यवस्था पिटी हुई जनता को खिलौना समझ अपने स्वार्थ साध रहे हैं। दक्षिण भारत की भाषायी स्थिति और उसमें हिंदी के स्थान को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी आज दक्षिण भारतीय जनता के बीच संपर्क की भाषा बनने में सफल हो रही है। इसमें फिल्मों के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। 'थ्री इडियट्स', 'पी.के'., 'सीक्रेट सुपरस्टार', 'दंगल', 'बाहुबलि' जैसी हिंदी और हिंदीतर भाषी फिल्मों का आदान-प्रदान उत्तर भारत और दक्षिण भारत को और निकट ला रहा है। 'बाहुबलि' फिल्म का हिंदी में रूपातंरण होने कारण यह भारत की सबसे अधिक कमाई करने वाली हिंदी फिल्म बन गई है। यही कारण है कि अब हिंदीतर प्रांत विशेषकर दक्षिण भारत की फिल्मों का रूपातंरण हिंदी में किया जा रहा है। चूँकि इसमें सामाजिक मुद्दों को संबोधित किया जा रहा है, इसलिए यह भाषा और भी इष्ट बनती जा रही है। हिंदी की भाषागत विशेषता भी यह है कि उसे सीखना और व्यवहार में लाना अन्य भाषाओं के अपेक्षा ज्यादा सुविधाजनक और आसान है। हिंदी भाषा में एक विशेषता यह भी है कि वह लोक भाषा की विशेषताओं से संपन्न है, बड़े पैमाने पर अशिक्षित लोचदार भाषा है, जिससे वह दूसरी भाषाओं में शब्दों, वाक्य-संरचना और बोलचालजन्य आग्रहों को स्वीकार करने में समर्थ है। इसके अलावा ध्यान देने की बात यह है कि हिंदी में आज विभिन्न भारतीय भाषाओं का साहित्य लाया जा चुका है। विभिन्न भारतीय भाषाओं के लेखकों को हिंदी के पाठक जानते हैं, उनके बारे में जानते हैं। भारत की भाषायी विविधता के बीच हिंदी की भाषायी पहचान मुख्यत: हिंदी है। वर्तमान में दक्षिण भारतीय हिंदी के माध्यम से स्वास्थ्य, रोजगार, दृषि, उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में कदम बढ़ाते जा रहे हैं। अब भाषा के प्रति यहाँ की सोच व्यापक होती जा रही है। इसीलिए तमिक के अमुक कवि कहते हैं-

तणिप्पटा मोहि अणपु	(निज भाषा से प्रेम करो)
आणै मोहि मतिक्का वेंटुम	(पर भाषा सम्मान करो।)
कोपत्तै वेडुक्कात्लड्कल	(राग द्वेष न फैलाओ)
इणिप्पु तोंणकलइक कुडुण्कल	(मीठी सी तान सुनाओ।।)

संदर्भ:

1. आओ हिंदी सीखें, सुरेश कुमार मिश्रा, बापूजी प्रकाशन, तेनाली, पृ. सं. 1, 2. सुगंधा-2, तेलंगाणा राज्य सरकार की पाठड्पुस्तक, पृ.सं. 30, 3. गुहा, रामचंद्र. 2014. भारत: गांधी के बाद. नई दिल्ली. पेंगुइन प्रकाशन, पृ.ग्प, 4. गुहा, रामचंद्र. 2014. भारत: गांधी के बाद. नई दिल्ली. पेंगुइन प्रकाशन, पृ. ग्प, 5. कवित्त, इरशादनामा, बुरहानुद्दीन 'जानम', 6. हिंदी भाषा चिंतन, प्रो. दिलीप सिंह, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा प्रकाशन, चेन्नई, पृ.सं. 268, 7. हिंदी भाषा चिंतन, प्रो. दिलीप सिंह, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा प्रकाशन, चेन्नई, पृ.सं. 268, 8. गांधी जी और हिंदी प्रचार, डॉ. रामधारी सिंह दिनकर, 9. संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किया गया सर्वेक्षण-2016, वेबदुनिया आनलाइन पत्रिका के अनुसार, 10. हिंदी और भारतीय भाषा का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ. रामछबीला त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.सं. 159

सुरेश कुमार मिश्रा, सरकारी पाठ्य पुस्तक समन्वयक व लेखक, तेलंगाणा सरकार
मो. : 73 8657 8657

राजभक्ति और भारतेन्दु

जसपाली चौहान

भारतेन्दु में उपर्युक्त विलोम विचारों की गंगा-यमुना क्यों? यह प्रश्न विचारणीय है। यदि देश और काल की गतिविधि पर हम मनन और विचार करें तो यह सरलता से समझा जा सकता है कि राष्ट्रभक्ति जैसे तत्व का उस काल तक सम्यक् उन्मेष और उस भावना का स्वरूप जैसा हम आज सोचते और विचारते हैं, संघटित न हो पाया था। लोगों की प्रतिक्रियावादी भावनाओं में राष्ट्र-चिंतन अवश्य था परंतु उसका श्रीगणेश ही हुआ था उसको एक सुस्थिर-स्वरूप न मिल सका था। इसके पर्याप्त प्रमाण तत्कालीन साहित्य में उपलब्ध है।

भारतेन्दु का समग्र साहित्य राष्ट्रोन्मुख है। उनकी यह विचारधारा उनके मंडल के समस्त साहित्यकारों में दिखाई देती है। परतन्त्रता के कारण भारत की जो दुर्दशा हो गई थी, उस दर्द को उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है-

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा-हा। भारत-दुर्दशा न देखी जाई।।
अब जहँ देखहु तहँ दु:खहि दु:ख दिखाई।
हा-हा। भारत दुर्दशा देखी न जाई।।

स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु जनता में राष्ट्रीय चेतन को उद्दीप्त करने के लिए भारतेन्दु ने प्राचीन भारतीय गौरव की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया पृथ्वीराज, राणाप्रताप, शिवाजी, रणजीत सिंह आदि वीरों की याद और वीरतापूर्ण भीषण युद्धों के ज्वलंत उदाहरणों में उनका राष्ट्रीय गान ध्वनित हो उठा है। उन्होंने भारत के प्राचीन गौरव एवं शौर्य के संबंध में लिखा है:

धन-धन भारत के सब छत्री जिनकी सुजस-धुजा फहराय।
मारि-मारि कै सत्रु दिए है लाखन बेर भगाय।
मदानद की फौज सुनत हो डरै सिकन्दर राय।
राजा चन्द्रगुप्त ले आए बेटी सिल्यूकस की जाय।।

लाहौर-राज जयपाल गयो चढि खुरासान पर धाय।
दीनो प्रान आनन्दपाल पर छॉड्यौ देश धरम नहिं जाय।।

भारतेन्दु ने तत्कालीन भारतीय समाज की सर्वतोमुखी अधोगति का हृदय-विदारक

चित्र अंकित किया है। उनके ये विचार देशभक्ति से प्रेरित होकर, देश के भविष्य की चिंता में व्यक्त होते थे।

मुस्लिम आक्रमण के समय हिन्दुओं की असहायावस्था का उन्होंने संताप और नैराश्पूर्ण वर्णन किया है। राष्ट्रीय चिंता के कारण उनका राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद से विचार वैमनस्य भी हुआ और भारतेन्दु को ब्रिटिश सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा, फिर भी उनके साहित्य में राजभक्ति की विचारणाएँ उपलब्ध है।

भारतेन्दु में उपर्युक्त विलोम विचारों की गंगा-यमुना क्यों? यह प्रश्न विचारणीय है। यदि देश और काल की गतिविधि पर हम मनन और विचार करें तो यह सरलता से समझा जा सकता है कि राष्ट्रभक्ति जैसे तत्व का उस काल तक सम्यक् उन्मेष और उस भावना का स्वरूप जैसा हम आज सोचते और विचारते हैं, संघटित न हो पाया था। लोगों की प्रतिक्रियावादी भावनाओं में राष्ट्र-चिंतन अवश्य था परंतु उसका श्रीगणेश ही हुआ था उसको एक सुस्थिर-स्वरूप न मिल सका था। इसके पर्याप्त प्रमाण तत्कालीन साहित्य में उपलब्ध है।

देश के साहित्य और इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ 1857 ई. की भारतीय क्रांति से माना जाता है। इस समय से समाज और साहित्य में नवीन उद्देलनों का सूत्रपात हो उठा, जिससे उक्त क्षेत्रों में नवीन प्रवृत्तियों का समावेश हुआ, अनन्तर बीसवीं शताब्दी में उनका पूर्णोत्कर्ष हुआ। इससे भारतेन्दु युग आधुनिक विचारणाओं के संबंध में हिन्दी का संक्रान्त युग है। वस्तु-स्थिति यह है कि जिस राष्ट्रीय विचारधारा का बीसवीं शताब्दी में पूर्ण विकास हुआ, वह भारतेन्दु युग में प्रस्फुटित और अंकुरित हुई थी। इससे राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति दोनों प्रवृत्तियाँ 'भारतेन्दु युग' में साथ-साथ प्रवाहमान है। इस समय उक्त प्रकार की विचारणाओं को भले ही आडम्बर और छलना कहें, परंतु वह विशेष स्थिति के कारण वैसा था जिसका उल्लेख विगत पंक्तियों में किया जा चुका है। इससे भारतेन्दु भी अपनी दुरंगी नीति और प्रवृत्ति के लिए क्षम्य है।

जिस समय अँग्रेज़ भारतवर्ष आए उस समय हिन्दु जनता मुसलमानी धार्मिक विद्वेष से प्रेरित अत्याचार के कारण पीड़ित थी। निरन्तर युद्ध और कलह से जनता अब ऊब उठी थी। अँग्रेज़ी राज्य से उसे धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई, विविध अत्याचारों से रक्षा हुई और दिन-रात के कलह एवं अशांति से छुटकारा मिलकर सुख और शांति का अनुभव हुआ इसीलिए 1875 में प्रिंस ऑव वेल्स के आगमन पर भारतेन्दु लिखते हैं-

''जैसे आतप तपित को छाया सुखद गुनात।
जवन राज के अंत तुव आगम तिनि दरसात।।
मसजिद लखि विसुनाथ ढिग परे हिए जो घाव।
ता कहँ मरहम सरिस यह तुव दरसन नर-राव।।

अँग्रेजी राज्य भारतीयों को मुस्लिम राज्य की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर लगा। सुख-शाँति के साथ पाश्चात्य सभ्यता द्वारा प्रदत्त विविध वैज्ञानिक साधनों के उपयोग, कानूनी शासन, सुन्दर न्याय पद्धति, नई शिक्षा आदि के कारण उन्होंने अँग्रेज़ी राज्य का गुणगान किया। भारतेन्दु ने भी इस संबंध में अपने भाव इस प्रकार प्रकट किए-

''बृटिश सुशासित भूमि में आनंद उमगे जात।

प्रिंस ऑव वेल्स को संबोधित करते हुए वे कहते हैं-

जदपि खंडहर सी परी भारत भुव अति दीन।
तदपि तुमहिं लखि कै तुरत आनंदित सब गात।।

वास्तव में मुगल शासन के अंतिम दिनों में भारतीय जीवन की व्यवस्था अनुशासनहीन और अराजकतापूर्ण हो गई थी। अंग्रेज़ों ने विविध सुधार किए जैसे- धार्मिक-स्वतंत्रता दी, अनेकों पुल बनवाए, नदी-नालों का निर्माण हुआ, सड़कों का निर्माण, प्रजा चोरी-डकैती के भय से मुक्त हुई। शिक्षा-व्यवस्था दुरस्त हुई आदि कार्य भारतीयों को पसन्द आए। प्रगति की इच्छा से उन्होंने इन सुधारों की सराहना की और उन्हें ग्रहण किया।

प्राचीन भारतीय राजनीति में राजा के व्यक्तित्व के साथ प्रजा का विशेष संबंध था। राजा को 'देवतुल्य' समझा जाता था। अँग्रेज़ी राज्य की नियामतों के साथ-साथ 'सर्व्व देव मयो नृप' वाली भावना भी काम कर रही थी। राजभक्ति भारत की मिट्टी का सहज गुण है इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने इग्लैण्ड के राजकुमार के शुभागमन के अवसरों पर अपने विचार व्यक्त किए। राजकुमार के टायफाइड से पीड़ित होने पर वे लिखते हैं-
'हम है भारत की प्रजा, सब विधि हीन मलीन।
जिनकी माता सब प्रजा गण की जीवन-प्राण।
तिनहि निरोगी कीजिए, यह विनषत भगवान।।

उस समय देश का नेतृत्व (शासन नहीं) शिक्षित समुदाय के हाथ में था। अँग्रेज़ी शासन में इस वर्ग ने आर्थिक-राजनीतिक तथा शिक्षा-संबंधी क्षेत्रों में विशेष उन्नति कर ली थी किन्तु निम्न मध्यमवर्ग और किसानों तथा अन्य निम्न श्रेणी के लोगों की दशा अच्छी न थी।

समाज के मध्यवर्गीय उन्नत समुदाय ने देश के चारों ओर अज्ञान, अविधा, निर्धानता और नैतिक दुर्दशा का राज्य और जनता में कुप्रवृत्तियों और कुप्रथाओं का प्रचार देखा। राज्य में छोटे-छोटे अंगरेज कर्मचारियों का जातीय पक्षपात, काले-गोरे का भेद, भारतीयों के साथ दुर्व्यव्यहार, सरकारी पदों पर भारतीयों का नियुक्त न होना, भारत की आर्थिक दुरावस्था आदि विषय भारतीय नेताओं का ध्यान आकृष्ट किए हुए थे। परंतु देश, सरकार से खुल्लमखुल्ला मोर्चा लेने के अयोग्य था, दूसरे अंग्रेज़ों की सैनिक शक्ति का आतंक भी छाया हुआ था इसलिए वे एक ओर तो अवसर मिलने पर जनता की भलाई की माँगे सरकार के सामने पेश करते थे, दूसरी ओर जनता को सुधारने और उसको उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। 'राजकुमार आगमन', 'राजकुमार-जन्मोत्सव', 'हर्षोत्सव', दरबारों आदि के अवसरों पर वे राजभक्ति तो प्रकट करते ही थे, साथ ही भारत की दीन-हीन दशा का चित्र खींच अपनी आर्थिक और राजनीतिक एवं शासन संबंधी माँगे पूरी करने की सरकार से अपील करते थे।

प्रारम्भिक कुछ राजनीतिक तथा अन्य सुधारों के कारण भारतवासियों को, भारत में इग्लैण्ड के मिशन पर बहुत कुछ भरोसा हो चला था। यात्रा-सम्बन्धी सुगमताओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुई ऐक्य-भावना से प्रेरित होकर उन्हें इग्लैण्ड से और भी आशाएँ बँध गई थी। ऐसे में

भारतेन्दु अपनी राजभक्ति का प्रदर्शन करते हुए, भारतवासियों के लिए याचना करते थे, यथा-

पूरी अभी की कटोरिया सी चिरजीवो सदा विकटोरिया रानी।
सूरज चंद प्रकाश करैं जब लौं रहै सात हूँ सिंधु मैं पानी।।
राज करौं सुख सों तब लौं निज पुत्र और पौत्र समेत सयानी।
पालो प्रजागन को सुख सों जग कीरति-गान करैं गुनगानी।।

लार्ड टिपन ने अँगेज होते हुए भी भारत में 'स्थानीक स्वराज्य' को दृढ़ बनाया और भारतीयों को राज प्रबन्ध के सम्पर्क में लाने का यथासाध्य प्रयत्न किया था। भारतेन्दु लिखते हैं-

'जय-जय रिपन उदार जयति भारत हितकारी।
जय भारतबासिहि देन नव महा-न्यायपति प्रथम पद।।

भारत अपने उपकारी का सदैव कृतज्ञ और आभारी रहा है, उपर्युक्त पंक्तियों में उन्होंने इसी को अभिव्यक्त किया है।

राजभक्ति प्रकट करते हुए भी भारतेन्दु के अपने चरित्र की प्रमुखता, विचार-स्वातन्त्र्य आदि के कारण राजा शिवप्रसाद जैसे राज्य-भक्तों की श्रेणी में उनकी गणना नहीं की जा सकती। वे 'गवर्नमेंट के आदमी' नहीं थे। उनकी राज्य भक्ति ऐतिहासिक परिस्थिति जन्य थी और वे भारत में अँग्रेज़ों के माध्यम से पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक और आर्थिक क्षेत्रों में उत्पन्न चौमुखी और व्यापक चेतना और उसके ज्ञान के कारण थी। भारत में उस समय जिस राष्ट्रीय चेतना का जन्म हुआ उससे वे ओत-प्रोत थे। राष्ट्रप्रेम के कारण उन्हें कई बार सरकार का कोपभाजन भी बनना पड़ा।

भारतीय उस स्थिति में नहीं थे कि अपने अतीत के बल, पौरुष और विद्या को प्रदर्शित कर पाते। अत: अन्य साधनों के अभाव में भारतेन्दु को राजभक्ति की विचारणा ही अनुकूल प्रतीत होती थी।

संदर्भ :

1. 'भारत दुर्दशा' (1880), भारतेन्दु नाटकावली, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, पृष्ठ 597-598 और 'विजय-पताका' (1882) भारतेन्दु ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी, पृष्ठ 43-47, 2. 'वर्षव-विनोद' (1880) भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं. 1991), पृष्ठ 503, 3. 'प्रबोधिनी' (1874) भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय, नागरी, प्रचारिणी सभा, पृष्ठ 684-685, 4. 'स्फुट कविताएँ'-भारतेन्दु-ग्रंथावली, द्वितीय, पृष्ठ 841-842, 5. हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' (1877) भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय, पृष्ठ 734-738, 6. 'नीलदेवी' (1881), भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ 661-662, 664-666, 669, 7. 'प्रेमजोगिमी' भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ 670, 716, 8. भारत दुर्दशा (1880) भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ 598,599, 603-604, 9. श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन (1875) भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय, पृष्ठ 697, 699, 10. 'भारत शिक्षा' (1875) भा.ग्र., द्वितीय, पृष्ठ 701, 11. 'भारत वीरत्व' (1878) भा.ग्र., पृष्ठ 761, 12. वैजयन्ती' (1882) भा. ग्र., पृष्ठ-800, 13. 'श्री राजकुमार-शुभागमन-वर्णन (1875) भा.ग्र., द्वितीय, पृष्ठ 699, 14. भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय, पृष्ठ 633, 15. 'मुद्राराक्षस' (1878) उपसंहार (क) भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ 335, 16. 'भारत-शिक्षा' (1875) भा.ग्र., द्वितीय, पृष्ठ 702-711, 17. ''टिपनाष्टक''- भारतेन्दु ग्रंथावली, द्वितीय, पृष्ठ 431

जसपाली चौहान, एसोसिएट प्रोफ़ेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय

मानस का हंस : तुलसीदास की जीवनगाथा

डॉ. अमिता तिवारी

अमृतलाल नागर ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने भारतीय समाज संस्कृति और इतिहास का समन्वित रूप अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया है। उनके उपन्यासों में राजनीतिक, सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं का चित्रण हुआ है। उनके उपन्यासों के केंद्र में मानवीय चरित्र हैं और मानवीयता की स्थापना उनके उपन्यासों का लक्ष्य। अमृतलाल नागर का सम्पूर्ण साहित्य भारतीय सांस्कृतिक गरिमा से ओत-प्रोत है। उन्होने सांस्कृतिक मूल्यों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त किया है।

'मानस का हंस' का विषय उनके अन्य उपन्यासों से भिन्न है। यह चरित्र प्रधान उपन्यास है। इसकी कथा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक है। यह इतिहास पुरूष तुलसीदास के जीवन पर आधारित है जिसका सांस्कृतिक महत्व भी है। तुलसीदास को केन्द्रीय पात्र बनाकर उपन्यास लिखने के संदर्भ मे नागर जी ने एक रोचक प्रसंग का वर्णन किया है। उपन्यास के 'आमुख' में उन्होंने लिखा है कि 'जब वे एक समारोह के अवसर पर अपने मित्र महेश जी को तुलसी के जीवनवृत पर आधारित फिल्म बनाने के लिए कहते है और वे उत्तर देते है -''पंडित जी क्या तुम चाहते हो कि मैं भी चमत्कारबाजी की चूहे दौड़ में शामिल हो जाँऊ? गोसांई जी की प्रामाणिक जीवनकथा कहाँ है,''।[1] महेश जी की यह बात उन्हें तुलसी के जीवन पर आधारित उपन्यास लिखने को प्रेरित करती है।

तुलसीदास के जीवन के संदर्भ मे कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तुलसीदास का जन्म अभुक्त नक्षत्र में हुआ था। यह नक्षत्र माता पिता के लिए अनिष्टकारी होता है। जन्म लेते ही माँ हुलसी की मुत्यु हो जाती है। तुलसी के जन्म वाले दिन ही मुगलों ने आक्रमण करके राजा साहब को मार दिया । विक्रमपुर गांव तहस नहस हो गया इसलिए इनके पिता ने इन्हें अनिष्टकारी और अशुभ समझकर त्याग दिया। तुलसीदास का पालन पोषण उनके घर की दासी मुनिया की सास पार्वती ने किया। तुलसीदास उसी पार्वती को अपनी माता कहते थे। बेनीमाधाव ने जब पूछा पार्वती माँ कौन थी तो तुलसीदास कहते है -''मेरी शरणदायिनी जगदम्बा रूपिणी बूढी भिखारिन।''[3]

'मानस का हंस' की रचना करने के लिए लेखक ने प्रचलित किंवदंतियों और तुलसीदास की रचनाओं में चित्रित उनके व्यक्तित्व को आधार बनाया है। उपन्यास के आमुख में उन्होंने लिखा है –''इस उपन्यास को लिखने से पहले मैंने 'कवितावली' और 'विनय पत्रिका' को खास तौर से पढ़ा। 'विनय पत्रिका' में तुलसी के अंत:संघर्ष के ऐसे अनमोल क्षण संजोए हुए है कि उनके अनुसार ही तुलसी के मनोव्यक्तित्व का ढाँचा खड़ा करना मुझे श्रेयस्कर लगा ....'कवितावली और हनुमान वाहुक' में खासतौर से दोहावली तथा गीतावली में कहीं –कहीं तुलसी की जीवनी की झाँकी मिलती है। मैंने गोसांई जी से संबंधित अगणित किंवदंतियों में से केवल उन्हीं को अपने उपन्यास के लिए स्वीकारा है जो कि इस मानसिक ढाँचे पर चढ़ सकती थी। डॉ. मोतीचंद्र लिखित 'काशी का इतिहास' तथा राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित 'अकबर' पुस्तकों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि संजोने में तथा स्व. डा माता प्रसाद गुप्त की 'तुलसीदास' और उदयभानु सिंह कृत 'तुलसीदास काक मीमांसा' ने कथानक का ढाँचा बनाने में बड़ी सहायता दी''[2] इन्हीं साहित्यिक और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' के माध्यम से तुलसी के जीवन चरित को बड़े सशक्त रूप में सबके सामने रखा।

'मानस का हंस' चरित्र प्रधान उपन्यास है। इसमें लेखक ने तुलसीदास के चरित्र का उद्‌घाटन किया है। उपन्यास में मुख्य कथा तुलसी के जीवन की है। अन्य कथाएँ और पात्र जैसे बेनीमाधव की कथा, बाबा नरहरि दास, टोडरमल आदि – तुलसीदास के जीवन चरित्र को ही गंभीर और समर्थ बनाती है।

तुलसीदास का जन्म अभुक्त नक्षत्र में हुआ था। यह नक्षत्र माता पिता के लिए अनिष्टकारी होता है। जन्म लेते ही मां हुलसी की मुत्यु हो जाती है। तुलसी के जन्म वाले दिन ही मुगलों ने आक्रमण करके राजा साहब को मार दिया । विक्रमपुर गांव तहस नहस हो गया इसलिए इनके पिता ने इन्हें अनिष्टकारी और अशुभ समझकर त्याग दिया। तुलसीदास का पालन पोषण उनके घर की दासी मुनिया की सास पार्वती ने किया। तुलसीदास उसी पार्वती को अपनी माता कहते थे। बेनीमाधव ने जब पूछा पार्वती माँ कौन थी तो तुलसीदास कहते है –''मेरी शरणदायिनी जगदम्बा रूपिणी बूढी भिखारिन।''[3]

माता पिता के बिना असहाय तुलसीदास किस प्रकार समाज की उपेक्षा सहते हुए, फटकार, दुत्कार खाते हुए खुले आकाश में प्रकृति के थपेड़े खाते हुए जीवन जीता है इसका बड़ा मार्मिक चित्रण अमृतलाल नागर ने किया है – ''आकाश में बिजली के कौंध के बीच–बीच में ललक उठने थे। बादलों की गड़गडाहट रामबोला को लगा कि मानों दैव आज प्रलय की बरखा करके ही दम लेंगे। हवा के मारे औरों के छप्पर भी पेंगे ले रहे हैं। अभी तक अपनी–अपनी छावनों बचाने के लिए सभी तूफान से जूझ रहे हैं। .... तब हम अब का करी, हमरै पेट भुखान है। हम नान्हें से तो है हनुमान स्वामी।[4] तुलसीदास अपनी जीविका रामायण की कथा सुनाकर चलाते है। उनका विवाह रत्नावली से हुआ था। उन्हें रत्नावली से अथाह प्रेम था। एक बार तुलसीदास रत्नावली के पीछे–पीछे अंधेरी रात में अपनी ससुराल पँहुच जाते है। वहाँ रत्नावली फटकारते हुए कहती है जितना प्रेम आप मुझसे करते है यदि उतना श्रीराम से करते तो आपको इस संसार से मुक्ति मिल जाती । रत्नावली के इस कथन के बाद ही तुलसीदास घर त्याग देते है और काशी में रहकर

'रामचरितमानस' की रचना करते हैं। काशी में तुलसीदास का बहुत विरोध हुआ परन्तु वे लोक कल्याण के पथ पर डंटे रहे। राम भक्ति का संदेश घर घर पँहुचाते रहे। रत्नावली काशी में तुलसीदास के साथ रहने की अनुमति मांगती है परन्तु तुलसीदास उन्हें वापिस राजापुर भेज देते है। रूढिवादी समाज का विरोध सहते हुए जीवनभर लोककल्याण के लिए कार्य करते रहते है। 90 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो जाता है।

मानस का हंस में तुलसीदास का स्वाभिमानी व्यक्तित्व दिखाई देता है। पाँच वर्ष के बालक में जो जुझारू प्रवृति दिखाई देती है। वही उसके आगे के जीवन का आधार बनती है। अमृतलाल नागर ने तुलसीदास के स्वाभिमानी चरित्र को 'मानस का हंस' में उभारा है। स्वाभिमान की भावना उनके बचपन से ही दिखाई देती है, भीख मांगते समय उनके स्वाभिमान को ठेस लगती थी। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है ''यद्यपि भिक्षा देने वालों के आग्रह पर मुझे प्राय: अच्छा नहीं लगता था। मेरे ब्राह्मण होने और मेरे दुर्भाग्य की बाते सुनकर वे मेरे प्रति सहानुभुति जगाया करती थी, यह बात आरम्भ से ही मेरे स्वाभिमान को धक्के मारती थी। ''[5]

तुलसीदास का जीवन भले ही पार्वती अम्मा के साथ भीख मांगते हुए बीतता पर उन्हें बचपन से ही भीख माँगना अच्छा नहीं लगता था। रामबोला पार्वती अम्मा से कहता है - ''हमको भीख माँगना अच्छा नहीं लगता है अम्मा। द्वारे-द्वारे रिरियाओं, गिड़गिड़ाओं कोई सुनै कोई न सुनै गाली दे यह रोज रोज का दुख हमसे सहा नहीं जाता।''[6] परन्तु भीख माँगना रामबोला की नियति बन गई थी।

भीख लेते समय लोगों की उपेक्षा डाँट फटकार खाकर ''रामबोला का चेहरा विवशता तमतमाहट से भर उठता। झोली आगे बढाने की इच्छा तो न हुई पर बढानी ही पड़ी। यह रोज़ का क्रम है।''[7] अपनी स्वाभिमान की भावना के कारण ही महराज पुत्तुन जब बच्चों को उनके साथ खेलने के लिए मना करते हुए कहते है - ''ससुर नीच जात भिखारी जिसकी देह से बास आती है तो रामबोला कहता है-''हम रोज नहात है महराज हम भी ब्राह्मण के बेटा है।''[8]

'मानस का हंस' में एक ओर जहाँ लेखक ने तुलसीदास के जीवन चरित को रूपायित किया है वही दूसरी ओर उस समय की सामाजिक, ऐतिहासिक स्थिति का भी गहन और सूक्ष्म चित्रण किया है। शेरशाह और हुमायूँ के शासन काल में हुई लूटपाट, मारकाट और मुगलों पठानों द्वारा की गई बर्बरता का भी हृदय विदारक वर्णन है। उस समय किस प्रकार सामंतों और मुगलों के राजनीतिक शोषण से जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। ब्राह्मण वर्ग द्वारा धर्म का दुरूपयोग, समाज में गरीबों की उपेक्षा, नारी की दीन दशा का यथार्थ रूप मानस का हंस में दिखाई देता है। अकाल की विभीषिका और शासन की अव्यवस्था के कारण जनता दाने-दाने को मोहताज थी। तुलसीदास के समय मे पड़े अकाल का अमृतलाल नागर ने बड़ा कारुणिक चित्रण किया है जिसका समर्थन तुलसीदास की कवितावली में इस प्रकार से होता है -

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज ना चाकर को चाकरी
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी

वेदहूं पुराण कहीं लोकहूँ बिलोकियत
साकरै सवैं पै राम रावरे कृपा करी
दारिद समान दवाई दुनी दीनबंधु
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी

'मानस का हंस' में अमृतलाल नागर ने तुलसीकृत मानस का हंस चरित्र ही चित्रित नहीं किया है बल्कि उस समय के समाज और राजनीतिक सामाजिक परिवेश का भी विस्तार से चित्रण किया है। उस समय की सामाजिक अमानवीयता का बोध हमें तुलसीदास के बचपन में अमीरों द्वारा उनके साथ किए गए व्यवहार में दिखाई देता है। उस समय का समाज कुरीतियों, अंधविश्वासों, मिथ्याचारों और बिडम्बनाओं में जकड़ा हुआ समाज था। तुलसीदास ने उस समय की सामाजिक जड़ता और विद्रूपता को समाप्त करने का प्रयास किया। उन्होंने धर्म वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध नहीं किया बल्कि लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लोक धर्म की स्थापना की। वह समाज की निंदा की परवाह न करते हुए नीची जाति के एक हत्यारे को अपने हाथों से भोजन कराते हैं क्योंकि वह रामभक्त था। मानवीयता की स्थापना करना तुलसीदास का लक्ष्य था।

तुलसीदास अपने समय के सच्चे लोकनायक थे। उन्होंने उस समय के अव्यवस्थित समाज के सम्नवय स्थापित करके एक सूत्र में बांधने के लिए ही रामलीला का अनोखा आयोजन किया जिसमें सभी जाति के वर्णों के लोग थे और पूरा शहर रंगमंच था। ''काशी की ऐसी कौन सी गली थी जिसे तुलसीदास ने अपना ना बना लिया हो। शहर में सैकड़ों ऐसे युवक थे जिन्होंने उन्हीं की प्रेरणा से हनुमान अखाड़े आयोजित किये थे। ब्राह्मण, राजपूत, अहीर, कहार, केवट, नाउ, जुलाहे छोटी कौमों के मुसलमान, तमौली छोटे छोटे सौदागर सभी तो बाबाराम बोला को अपना मानते है''[9]

तुलसीदास अपने समय के समाज में आदर्श की स्थापना करना चाहते थे । उनके अंदर सेवाभाव कूट कूट कर भरा था। काशी में अकाल के समय में वे दिन-रात रोगियों की सेवा करते थे। तुलसीदास की सेवा भाव की सराहना करते हुए रामू कहता है कि गिल्टी होने के बाद भी वे लोगों की सेवा करते है। ''इन्होंने बड़ा दुख झेला पर इसमें भी जब तक शरीर चले तब तक दूसरो का दुख भी झेलते रहते थे । इन्हीं के उत्साह से हम सैकड़ों जवान थककर भी ना थक गए, दिन-रात रोगियों की सेवा करते शव ढो ढोकर फूँकते और आठों प्रहर सीताराम की गुहार लगाकर अपना मनोबल बढाया करते थे ''[10] समाज की सेवा करने के लिए उन्होंने मठाधीश की गद्दी भी छोड़ दी वे जन समाज की पीड़ा दूर करना चाहते थे।

मानस का हंस का सबसे सशक्त प्रसंग राम और काम का अंतर्द्वन्द्व है राम और काम के अन्तर्द्वन्द्व से ही तुलसीदास को जीवनभर जूझना पड़ा और जूझने की इसी प्रक्रिया में काम से जूझकर उससे उबरकर वे राममय हो गए। तुलसी से तुलसीदास बन गए। तुलसी के जीवन में भले ही अनेक स्त्रियां आई उन्हें स्त्रियों से प्रेम भी रहा पर वही स्त्री उनके कल्याण का माध्यम भी बनी। उपन्यास में वर्णित मोहिना प्रसंग अत्यंत मार्मिक है और यही प्रसंग तुलसी के व्यक्तित्व को उदात्त बनाता है। किस प्रकार वे अपने अंत:करण में उठने वाले भावों से युद्ध करते है अपनी कमजोरियों से संघर्ष करते है और अंतत: उन बुरे भावों और कमजोरियों पर विजय प्राप्त करते हुए भक्ति के

पथ पर अडिग रहते हैं।

रत्नावली की तुलसीदास के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। रत्नावली की सशक्त वाणी ने ही काम के दलदल से निकाल कर राम के मार्ग पर डाल दिया जिस पर चलकर वे मोक्ष के अधिकारी बने। रत्नावली का यह कहना ''स्त्री पुरुष में यही तो अंतर होता है नारी भले ही काम वश माता क्यों न बने किंतु माता बन कर वह एक जगह निष्काम भी हो जाती है और पुरुष पिता बनकर भी दायित्व बोध भली प्रकार से अनुभव नहीं करता। वह निरे चाम का लोभी है जीवन में रमें राम का नहीं''।[11] रत्नावली का यही कथन तुलसीदास के मन में संसार से बैराग्य और राम के प्रति अनुराग उत्पन्न करता है। उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है

''करै एक रघुनाथ संग बांध जटा सिर केश
हम तो चाखा प्रेम रस पत्नी के उपदेश''

'मानस का हंस' का मूल्यांकन करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है – ''तुम्हारे उपन्यास में अर्न्तगत और बाह्य जगत परस्पर जुड़े हैं। 'अंतर जामिहु' ने बड़ बाहिर जामी है राम बाली उक्ति यहाँ चरितार्थ होती है । तुलसी की भक्त और कवि वाली साधना उस युग

संघर्ष से जुड़ी हुई है और यह संघर्ष मूलत: सामन्ती व्यवस्था का आंतरिक संघर्ष है। तुलसी पर ढेले फेंकने वाले उनके घर में आग लगाने वाले वैसे ही हिंदू थे जैसे गाँधी को मारने वाला गोडसे। यह आंतरिक संघर्ष वहां कितना विकट है यह तुम्ही देख सकते थे तुम्ही देख सकते हो। तुलसीदास से जो व्यवस्था टकरायी थी वह अभी चूर चूर नहीं हुई 'रामचरित मानस' से चली आती हुई उसकी संघर्ष श्रृंखला की एक कड़ी मानस का हंस है। आज के संदर्भ में तुम्हारे उपन्यास की यही सार्थकता है। [12]

मानस का हंस प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है। इसकी कथा पूर्व दीप्ति शैली तुलसीदास से उनके जीवन कथा सुनाने का आग्रह बेनीमाधव करते है और स्थान स्थान पर प्रश्न पूछते है जिनका उत्तर देते हुए तुलसीदास अपने जीवन की कथा सुनाते है। मानस का हंस की कथा में पर्याप्त नाटकीयता और विविधता है। कहीं घटनाओं का सीधा वर्णन है तो कहीं किसी पात्र के संस्मरण के रूप में तो कहीं किसी मित्र के मुख से कथा कहलायी गयी है। कहीं कहीं स्वयं तुलसीदास अपनी कथा सुनाते है। इसका कथानक सुव्यवस्थित और गठा हुआ है। सहज, सरल, स्वाभाविक भाषा शैली का प्रयोग है। लोक प्रचलित मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा समर्थ और प्रभावशाली हुई है।

संदर्भ सूची

1. अमृतलाल नागर मानस का हंस, पृ. 1, 2. वहीं, पृ., 3. वहीं, पृ. 46, 4. वही, पृ. 48-49, 5. वहीं, पृ. 51, 6. वहीं, पृ. 52, 7. वहीं, पृ. 52, 8. वहीं, पृ. 53, 9. वहीं, पृ. 225, 10. वहीं, पृ. 31, 11. वहीं, पृ. 252, 12. रामबिलास शर्मा धार्मयुग 8 अप्रैल 1973, पृ. 15

डॉ. अमिता तिवारी, एसोसिएट प्रोफेसर, जीसस एंड मैरी कॉलेज, दिल्ली विश्वाविद्यालय

प्रेमचंद साहित्य के अधिकारी विज्ञान डॉ. कमल किशोर गोयनका से जयप्रकाश मानस की बातचीत

प्रगतिशीलों ने प्रेमचंद के जीवन के तथ्यों को छिपाया

कमल किशोर गोयनका

हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों ने मार्क्सवाद के आधार पर उनका विवेचन किया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकारियों को बताया कि प्रेमचंद की मार्क्सवादी व्याख्या से उन्हें जनता तक पहुँचाया जा सकता है और इससे समाजवाद का विस्तार होगा। पार्टी नेताओं से अनुमति मिलने पर प्रेमचंद को मार्क्सवादी बनाने का अभियान शुरू हुआ, जो रूस में कम्युनिस्ट सत्ता के समाप्त होने तथा चीन के पूँजीवाद की गोद में बैठने के बाद भी चल रहा है। इन प्रगतिशील आलोचकों ने तथा अमृतराय तक ने, प्रेमचंद के जीवन के तथ्यों को छिपाया।

मानस - आपको यदि मैं लघुकथा के प्रथम व्याकरणाचार्य के रूप में देखता हूँ तो किस हद तक सही हूँ।

गोयनका जी - मेरा ऐसा कोई दावा नहीं है, परंतु यही सच है कि हिंदी के आलोचकों ने लघुकथा को कभी गंभीरता से नहीं लिया और यह विधा किसी आलोचक की प्रतीक्षा करती रही। बस मैंने इस प्रतीक्षा को संतुष्ट किया, लेकिन यह कहना उचित नहीं होगा कि मैंने लघुकथा का व्याकरण या शास्त्र रच दिया है। लघुकथा के विकास के साथ तथा उसमें नई-नई संवेदनाओं के आने पर उसके शास्त्र तथा कसौटी में भी परिवर्तन होता रहेगा। अपनी पुस्तक 'लघुकथा का व्याकरण' को मैं इस दृष्टि से आरंभिक प्रस्तावना मानता हूँ, जिसमें उठाए गए मुद्दों पर बहस होनी चाहिए। इस पर लघुकथाकारों को सोचना चाहिए।

मानस - लघुकथा की ओर प्रवृत्त होने वाले आप पहले आलोचक भी माने जा सकते हैं। प्रेमचंद जैसे विश्वप्रसिद्ध कथाकार के विशेषज्ञ होने के बाद अचानक आप लघुकथा को गति देने कैसे उतर आए? क्या इसके पीछे आपको आलोचना जगत में एक श्रेष्ठ आलोचक या अध्येता के रूप में मान्यता नहीं मिली या लोकप्रियता के साथ जुड़ने का दबाव भी था?

गोयनका जी-लघुकथा का मैं पहला आलोचक नहीं हूँ। मुझसे पहले कई प्रतिष्ठित लेखकों ने लघुकथा पर प्रिय-अप्रिय टिप्पणियाँ की हैं, लेकिन इतना सही है कि संभवत: मैं पहला आलोचक हूँ, जिसने लघुकथा की

आलोचना पर पुस्तक लिखी है। प्रेमचंद पर काम करते हुए मैंने केवल लघुकथा पर ही काम नहीं किया है बल्कि यशपाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बच्चन, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, मन्मथनाथ गुप्त, जगदीश चतुर्वेदी, मंजुल भगत, रामकुमार वर्मा आदि पर भी पुस्तकें आ चुकी हैं। हिंदी के प्रवासी साहित्य पर मेरी पाँच पुस्तकें हैं। अत: यह कहना उचित नहीं है कि मैं अचानक लघुकथा के क्षेत्र में आ गया। मेरे साथ ऐसा भी नहीं था कि प्रेमचंद साहित्य पर प्रकाशित मेरी पुस्तकों (प्रेमचंद विश्वकोश, प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य, प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प-विधान, प्रेमचंद, प्रेमचंद और शतरंज के खिलाड़ी, प्रेमचंद - चिंतात्मक जीवनी, प्रेमचंद की अप्राप्य कहानियाँ, प्रेमचंद के नाम पत्र, प्रेमचंद - पत्र कोश आदि) ने मुझे प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि न दी हो। आप जो मुझे प्रेमचंद विशेषज्ञ कह रहे हैं, यह उसी प्रसिद्धि का प्रमाण है। अत: निराशा की कोई बात नहीं थी और वैसे भी मैंने प्रसिद्धि के उद्देश्य से कोई काम नहीं किया। प्रसिद्धि चाहने से नहीं मिलती, वह केवल साधना से मिलता है और कई बार साधना-सिद्ध व्यक्ति भी ख्याति से वंचित रह जाता है। लघुकथा में आने का कारण यह था कि मुझे लघुकथा से प्रेम था और प्रेमचंद ने भी लघुकथाएँ लिखी थीं, लेकिन लघुकथा की आलोचना में अपने कुछ मित्र लघुकथाकारों के कारण आया जिन्होंने अपने प्रेम से मुझे विवश किया कि मैं लघुकथा पर कुछ लिखूँ तथा कहूँ।

मानस-प्रेमचंद को आम आदमी का कथाकार कहा जाता है। इसका मतलब क्या ऐसा भी है कि वे खास से दूर थे। मैंने कहीं पढ़ा है कि वे तो अपने समय में, अपने समाज में खास हैसियत रखते थे। कहते हैं उनकी बेटी की शादी में उन्होंने काफी खर्च किया था, फिर ऐसी कौन-सी परिस्थिति, मन:स्थिति, दबाव रहा होगा, जिससे एक खास आर्थिक स्थिति वाला रचनाकार आम आदमी का विश्वस्तरीय कथाकार बनने की ओर प्रस्थान कर जाता है ?

गोयनका जी - प्रेमचंद खास आर्थिक स्थिति वाले रचनाकार नहीं थे, जैसे कि टॉल्सटॉय और टैगोर थे। ये दोनों रचनाकार आभिजात्य वर्ग के थे, किंतु प्रेमचंद एक साधारण परिवार में जन्मे थे और अपने जीवन के अंतिम बीस वर्षों में उस समय के मध्य वर्ग में आ चुके थे। उनके देहांत के समय उनके बैंक खातों में लगभग पाँच हजार रुपए थे, दो बीमा पॉलिसियाँ थीं, सरस्वती प्रेस था, घर का मकान था और हजारों रुपयों की पुस्तकों का स्टॉक था। वे 1934-35 में बम्बई की एक फिल्म कंपनी में काम करने गए थे, तब उनका वेतन आठ सौ रुपए मासिक था। वे जब वहाँ से लौटे तो पुत्री के लिए हीरे की लौंग लेकर आए थे। आपने यह सही सुना है कि उन्होंने अपनी पुत्री कमलादेवी के विवाह में, उस समय की स्थिति के अनुसार, काफी पैसा खर्च किया था। उनकी पुत्री से हुई मेरी बातचीत के अनुसार यह धनराशि आठ से दस हजार रुपयों के बीच थी, जो उस युग में काफी अधिक थी। प्रेमचंद पूँजीपति नहीं थे, लेकिन वे मध्य वर्ग तक पहुँच गए थे। उन्होंने अपने पुत्रों श्रीपतराय और अमृतराय को हॉस्टल में रखकर पढ़ाया था जो उस समय हर व्यक्ति के लिए संभव न था, लेकिन वे अपने जीवन में 'खास वर्ग' या अभिजात-वर्ग से दूर ही थे। उनका संबंध प्राय: लेखकों से था या आर्य समाजी एवं कांग्रेसी नेताओं से, जिनके साथ उनका उठना-बैठना था। वे धन को मनुष्य का दुश्मन मानते थे, अत: धनियों एवं पूँजीपतियों या अभिजात-वर्ग से आत्मीयता का भाव होना कठिन था। प्रेमचंद आम आदमी के रचनाकार थे, इसमें दो राय नहीं हो सकती, परंतु उनके साहित्य में एक खास वर्ग - जमींदार, प्रोफेसर, डॉक्टर, वकील, अंग्रेज शासक, पत्रकार आदि न हों, ऐसी बात नहीं है। प्रेमचंद ने इस अभिजात वर्ग का जो चित्रण किया है, वह

काफी यथार्थपूर्ण है। अत: प्रेमचंद को आम आदमी के रचनाकार तक सीमित रखना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता। जो उन्हें इस रूप में सीमित करते हैं, वे राजनीतिक उद्देश्यों से पीड़ित हैं एवं प्रेमचंद की अधूरी मूर्ति रखने के दोषी हैं।

मानस - आपने प्रेमचंद साहित्य का काफी गंभीरता के साथ अनुशीलन किया है। आप उन्हें अन्य प्रगतिशील कथाकारों, आलोचकों की मान्यता के बरक्स भिन्न कैसे सिद्ध करते हैं ?

गोयनका जी - हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों ने मार्क्सवाद के आधार पर उनका विवेचन किया है। डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकारियों को बताया कि प्रेमचंद की मार्क्सवादी व्याख्या से उन्हें जनता तक पहुँचाया जा सकता है और इससे समाजवाद का विस्तार होगा। पार्टी नेताओं से अनुमति मिलने पर प्रेमचंद को मार्क्सवादी बनाने का अभियान शुरू हुआ, जो रूस में कम्युनिस्ट सत्ता के समाप्त होने तथा चीन के पूँजीवाद की गोद में बैठने के बाद भी चल रहा है। इन प्रगतिशील आलोचकों ने तथा अमृतराय तक ने, प्रेमचंद के जीवन के तथ्यों को छिपाया, गांधी से मोह-भंग होने का झूठा प्रचार किया तथा यह स्थापित किया कि प्रेमचंद अंतिम वर्षों में खूनी क्रांति द्वारा समाजवाद लाने के समर्थक हो गए थे। यह उसी साजिश का अंग था जो डॉ. रामनिवास शर्मा ने शुरू की थी, लेकिन सत्य इसके विपरीत था। प्रेमचंद ने अंतिम वर्षों में स्टालिन के रूसी साम्राज्य पर लिखा था कि रूस भी विचार का साम्राज्य चाहता है और यह समाजवाद, पूंजीवाद से भी भयानक है। 'गोदान' तक में भारतीय कम्युनिस्टों की आलोचना की गई है। प्रेमचंद के आदर्शवाद को खंडित करने तथा उसे अतार्किक, अव्यावहारिक तथा भावुकतापूर्ण कल्पना बताने में भी इन प्रगतिशील आलोचकों की यही दृष्टि काम कर रही थी। इन्होंने प्रेमचंद को यथार्थवादी और समाजवादी यथार्थवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया और उनकी केवल पाँच-छ: रचनाओं के आधार पर उनका मूल्याँकन किया जो किसी भी कसौटी पर सही नहीं कहा जा सकता। प्रेमचंद की शक्ति उनके आदर्शवाद में है, जो मनुष्य का परिष्कार करता है, उसका उत्कर्ष करता है और उसे परिवार, समाज एवं देश के लिए उपयोगी तथा सार्थक बनाता है। प्रेमचंद की इस शक्ति को ये प्रगतिशील आलोचक, जड़ संवेदनशीलता के सम्मुख, निम्न कोटि का सिद्ध करते हैं, जबकि कोई भी संवेदनशील लेखक अपनी रचना को संवेदनाशून्य कैसे बना सकता है? 'कफन' कहानी में जो संवेदना है, उसे ये प्रगतिशील देखते ही नहीं हैं। ऐसी स्थिति में मैंने इसके विरुद्ध अपनी मान्यताएँ रखीं और तथ्यों एवं प्रमाण के साथ रखी। प्रेमचंद के जीवन के अनेक नए तथ्य खोजे और 'प्रेमचंद विश्वकोश' में प्रस्तुत किए, उनकी आलोचना के लिए उनके समग्र साहित्य को आधार बनाया और लगभग 1400 पृष्ठों का नए साहित्य को खोज कर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया और प्रेमचंद को राजनीतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त करके उन्हें भारतीयता के आधार पर विवेचित करके उनका एक राष्ट्रीय-बिम्ब प्रस्तुत किया। प्रेमचंद ने स्वराज्य, स्व-संस्कृति, स्वभाषा तथा भारतीय अस्मिता एवं भारतीय आत्मा के उत्थान के लिए ही साहित्य की रचना की और इसी भारतीयता से हम उनका जीवन-दर्शन तथा रचनाओं के रचना-सूत्र समझ सकते हैं।

मानस - प्रेमचंद साहित्य की सीमाओं के बारे में यदि कोई जानना चाहे तो आप उसे नि:संकोच कैसे व्याख्यायित कर सकते हैं ?

गोयनका जी - संसार में प्रत्येक व्यक्ति की सीमाएँ हैं, अत: प्रेमचंद भी सीमाओं में बँधे हैं। मैंने यद्यपि इस दृष्टि से सोचा नहीं था, क्योंकि मेरी दृष्टी उनकी उपलब्धियों तथा योगदान पर अधिक रही। प्रेमचंद अपने देशकाल में समाए हैं, लेकिन इसे मैं उनकी सीमा कैसे मानूँ, क्योंकि इस समसामयिकता में से ही उनका कालजयी रूप निकलता है। प्रेमचंद के पास व्यापक मानवीय समाज है, विभिन्न एवं विविध रंगों एवं चरित्रों वाले हजारों पात्र हैं, तब कैसे कहूँ कि वे सीमा में आबद्ध हैं। उन्होंने हिंदू, इस्लाम और ईसाई धर्मों की समस्याओं तथा निम्न, मध्य एवं उच्च वर्ग के पात्रों को अपनी कथाओं के ताने-बाने में बुना है तो आप बताएं, मैं कैसे कहूँ वे सीमाबद्ध थे। उनका जीवन-दर्शन भी किसी एक रजानीतिक दर्शन से जकड़ा हुआ नहीं था, अत: वे जीवन और समाज के लिए जिसे उपयोगी समझते थे, उसे अपनाने में विलंब नहीं करते थे। फिर भी यदि सीमा को देखना आवश्यक हो तो मुझे यह प्रतीत होता है कि वे जीवन के लिए कोई समग्र दर्शन नहीं दे पाए तथा पूर्व और पश्चिम की समन्वयात्मक विचार-दृष्टि भी नहीं दे सके। लेकिन एक कथाकार से हम सब कुछ नहीं प्राप्त कर सकते।

मानस - मैंने कहीं पढ़ा है - स्वयं प्रेमचंद जी कहते हैं कि हर रचनाकार प्रगतिशील होता है, उसे अलग से प्रगतिशील होने की आवश्यकता नहीं होती, फिर उन्होंने स्वयं कैसे 'प्रगतिशील लेखक संघ' के कर्ताधर्ता का पद स्वीकार किया ?क्या वह एक आम लेखक की कमजोरी थी? क्या वे सचमुच प्रगतिशील थे ?

गोयनका जी - मैं इसे मानता हूँ कि रचनाकार प्रगतिशील होता है। यह उसके स्वभाव में होता है, अत: हर रचनाकार को अलग से प्रगतिशील कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रेमचंद ने अप्रैल, 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए यह बात कही थी, 'प्रगतिशील लेखक-संघ', यह नाम ही मेरे विचार में गलत है। साहित्यकार या कलाकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। प्रेमचंद को इसकी जानकारी नहीं थी कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' के संस्थापकों (मुल्कराज आनंद, सज्जाद जहीर आदि) का कोई संबंध कम्युनिस्ट पार्टी से है। इसके सभी संस्थापक लंदन में थे और आभिजात्य वर्ग के थे तथा इनका कोई संबंध जनता से नहीं था। ये सभी लोग 22-25 वर्ष के थे तथा सन 1935 में इन्होंने पेरिस (फ्रांस) में आयोजित कम्युनिस्ट पार्टी की बैठक में भाग लिया था। इसी के परिणाम स्वरूप इन्होंने लंदन में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' की स्थापना की और उसका उद्घाटन कर लखनऊ में प्रेमचंद से कराया। प्रेमचंद ने इन युवकों का साथ इसलिए दिया, क्योंकि इनके घोषणा-पत्र में प्राय: वही उद्देश्य रखे गए थे जिन पर प्रेमचंद स्वयं भी चल रहे थे। इस घोषणा-पत्र में न तो लेनिन-स्टालिन का उल्लेख था, न मार्क्सवाद का और न मार्क्सवादी प्रगतिशीलता का। असल में कम्युनिस्टों को भारत में पैर जमाने के लिए भारत के हृदय-हिंदी प्रदेश में प्रवेश करना जरूरी थी और वे इसके लिए किसी राजनेता का सहारा नहीं ले सकते थे। उन्हें प्रेमचंद से अधिक उपयुक्त कोई साहित्यकार नहीं मिल सकता था, जिसकी लोकप्रियता हिंदी तथा उर्दू दोनों भाषाओं में थी। यही कारण है कि प्रेमचंद ने 'प्रगतिशील' शब्द को ही निरर्थक माना, क्योंकि वे इस शब्द को कम्युनिज्म से जोड़ने को तैयार नहीं थे, परंतु चालबाज वामपंथियों ने इसकी चिन्ता नहीं की और इस विडम्बना को भी अचर्चित रहने दिया कि जो लेखक 'प्रगतिशील' शब्द को ही व्यर्थ मानता है, वह कैसे प्रगतिशील आंदोलन का उद्भावक एवं प्रसारक कहा जा

सकता है? प्रेमचंद निश्चय ही प्रगतिशील थे, परंतु वे मार्क्सवादी परिभाषा में न थे, बल्कि उस भारतीय अर्थ में थे जिसमें 'चरैवेतित-चरैवेति' को मानव-चेतना का अंग माना गया है। इसमें गति एवं गतिशीलता तथा प्रगति ही जीवन है, जड़ता एवं स्थिरता मृत्यु है। प्रेमचंद जीवन की गतिशीलता के साथ थे और यही उनकी प्रगतिशीलता थी।

मानस - आप प्रगतिशीलता और भारतीयता को किस दृष्टि से देखते हैं ?

गोयनका जी - हिंदी आलोचना में 'प्रगतिशीलता' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है वह मार्क्सवादी दर्शन से निर्धारित होता है। हिंदी में वामपंथियों ने इस शब्द को साहित्य की कसौटी बना दिया, लेकिन इसके पीछे छिपे राजनीतिक उद्देश्यों को अब हिंदी साहित्य-संसार समझ चुका है। डॉ. रामनिवास शर्मा ने सन 1941 में 'प्रेमचंद' शीर्षक से पुस्तक लिखी थी और उन्होंने प्रेमचंद के मत का समर्थन करते हुए लिखा था, ''प्रगतिशील लेखकों का भी उन्होंने (प्रेमचंद) स्वागत किया था, लेकिन 'प्रगतिशील' नाम की तथ्यहीनता का उल्लेख उन्होंने प्रगतिशील लेखक सम्मेलन में ही किया था। प्रगतिशील लेखक संघ नाम गलत है, बताते हुए उन्होंने कहा था, ''साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है। अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।'' प्रगतिशील लेखक साहित्य में कुछ ऐसा नहीं करने जा रहे थे जो नितांत नवीन हो और पूर्व में साहित्य उससे अपरिचित हो। केवल नाम का बिल्ला लगाने से कोई प्रगतिशील या अन्य रूप से महान साहित्यिक नहीं हो जाता। प्रेमचंद के लिए साहित्य का ही अर्थ प्रगति था। इस वास्तविक अर्थ की स्वीकृति के बावजूद प्रगतिशील आलोचकों-लेखकों ने प्रेमचंद के अर्थ को स्वीकार नहीं किया और अपने राजनीतिक उद्देश्यों के लिए इस शब्द का दुरुपयोग करते रहे। प्रेमचंद को अपनाने वाले ही उनके शत्रु हो गए।

भारतीयता एक व्यापक शब्द है तथा प्रगतिशील शब्द की तरह कृत्रिम अर्थ नहीं देता। भारत राष्ट्र, उसकी भूमि और जन, उसका इतिहास और संस्कृति, देशकाल के अनुरूप विकास और आधुनिकता, एकता एवं समन्वय तथा मानवीयता, ये सब भारतीयता के अंग हैं। जो लोग भारत को महाद्वीप मानते हैं तथा विभिन्न संस्कृतियों का देश कहते हैं, वे भारत की आत्मा को नहीं जानते। भारतीयता बहुलता में भी एकता का उद्घोष है और यह एकता जीवन के प्रत्येक अंग में है। जो भारत राष्ट्र के अंग-भंग करना चाहते हैं, वे ही इस भारतीयता को अस्वीकार करते हैं। जो देश एक हजार वर्ष की गुलामी से नहीं टूटा, उसे वे एक धर्मनिरपेक्षतावादी स्वार्थी लोग कभी नहीं तोड़ पाएंगे और भारतीयता अखंडित रहेगी।

मानस - आज साहित्य में प्रगतिशीलता कहाँ है? किस मुकाम पर है वह, दरअसल वह क्या है, क्या इस पर आपको कभी शंका हुई? जबकि प्रगतिशील नारों को उछालने वाले देश, विचारक, सिद्धांतकार एक-एक कर उसके विरुद्ध जाते नजर आ रहे हैं। प्रगतिशीलता का वास्तविक महत्व भारतीय परिप्रेक्ष्य में क्या होना चाहिए?

गोयनका जी - मुझे 'प्रगतिशीलता' पर सदैव संदेह क्या विश्वास रहा है कि यह राजनीतिक हथियार है जिसे वामपंथी आज तक इस्तेमाल कर रहे हैं। प्रेमचंद के साथ 'प्रगतिशील' और 'समाजवाद' शब्द जोड़कर इन लोगों ने स्टालिन और माओ के हिंसक दर्शन को भारत के उपयुक्त सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इन्होंने इस तथ्य को छिपाया कि इन्हीं तानाशाहों ने रूस और

चीन में लाखों लोगों की हत्याएँ की थीं और अब तो रूसी एवं चीनी समाजवाद समाप्त हो चुका है, और विश्व में उसकी असफलता एवं अवैज्ञानिकता सिद्ध हो गई है, किंतु राजेन्द्र यादव, नामवर सिंह, ज्ञानरंजन जैसे प्रगतिशील लेखक इस मरी बंदरिया को छाती से लिपटाए हैं। समाजवादियों की यह प्रगतिशीलता सम्पूर्ण मनुष्य समाज को एक दर्शन तथा एक पुस्तक में बाँधकर एकपंथी बनाने की साजिश है। ये प्रगतिशील कितने दोगले हैं कि भारत की बहुलता को स्थापित करते हैं, परंतु दुनिया को एकमात्र अपने ही मार्ग पर चलाना चाहते हैं। इस प्रकार मार्क्सवाद, ईसाई एवं इस्लाम धर्म के समान है, जो विश्व को अपना अनुयायी बनाना चाहते हैं। भारत के संदर्भ में प्रगतिशीलता का अर्थ विकास, गतिमयता के साथ निरन्तर आत्म-विश्लेषण करके आधुनिक होते रहना है। चरैवेति-चरैवेति का यही अर्थ है कि मनुष्य अतीत के साथ जुड़ कर निरंतर आगे बढ़ता रहे, अर्थात आधुनिक होता रहे। मनुष्य आगे चलेगा तो नई दुनिया के संपर्क में आएगा। कुछ सीखेगा और कुछ सिखाएगा, और इस प्रवाह में वह सदैव प्रगतिशील बना रहेगा।

मानस - लघुकथा की विधा को आप कैसे परिभाषित करेंगे?

गोयनका जी - मैने अपनी पुस्तक 'लघुकथा का व्याकरण' (2002) में इसी परिभाषा 'जीवन की आलोचना या व्याख्या' के रूप में दी थी। मेरा आज भी यही मत है कि लघुकथा जीवन की आलोचना है। लघुकथाकार भी अन्य साहित्यकारों के समान जीवन के शुभ-अशुभ, मंगल-अमंगल, सत्य-असत्य, सुंदरता-कुरूपता पर गहराई से आलोचनात्मक ष्टि से विचार करता है और उसका लक्ष्य जीवन शुभ , मंगल, सत्य तथा सुंदर का उद्घाटन करना होता है। इसके लिए कई बार अशुभ, अमंगल, असत्य एवं कुरूपता का चित्रण करके हट जाता है, किंतु वह अंधकार से प्रकाश की ओर ही ले जाना चाहता है। अत: जीवन की आलोचना मनुष्य के कल्याण के लिए ही होती है और लघुकथाकार भी इसी पथ का पथिक होता है।

मानस-आपने पहले छत्तीसगढ़ के माधवराव सप्रे को हिंदी का प्रथम लघुकथाकार नहीं माना था, परंतु जैसे ही आप निश्चिंत हो गए कि वे ही प्रथम लघुकथाकार हैं, इसे संशोधन के साथ स्वीकार किया था। क्या यह अब भी आपकी स्पष्ट मान्यता है या कोई नए तथ्य आपके सम्मुख आए हैं ?

गोयनका जी - आप ठीक कहते हैं। मैं मूलत: शोधकर्ता हूँ और तथ्य एवं साक्ष्य ही मेरे निष्कर्षों के आधार हैं। अत: नए तथ्य सामने आने पर शोधकर्ता को तत्काल अपने पूर्व मत का संशोधन कर लेना चाहिए। मैंने जैसे ही पाया कि माधवराव सप्रे की लघुकथा 'एक टोकरी भर मिट्टी' ही हिंदी की पहली लघुकथा है, मैंने अविलम्ब इसे लिख कर स्वीकार किया। आज भी यही मत मेरा है, क्योंकि इसे खंडित करने का कोई आधार मेरे पास नहीं है। मुझे प्रसन्नता है कि अब यह मत सर्वमान्य हो गया है। इस कहानी का महत्व यह भी है कि यह कहानी लघुकथा की नहीं कहानी की भी उद्भावक है। ऐसा महत्व किसी अन्य को नहीं मिला।

मानस - कहते हैं, और सुनते भी रहे कि वह सिर्फ एक तीखा कथन, चमत्कारिक वाक्य, संगुंफन है। वहाँ अनुभूतियाँ, जीवन-दर्शन, जीवंतता एक पाठक को समग्र रूप में बाँधने की क्षमता है, यह किस हद तक सही है? ऐसे में क्या यह आधी-अधूरी विधा साबित नहीं होती?

गोयनका जी - लघुकथा अपने आप में एक पूर्ण विधा है, जैसे अन्य विधाएँ हैं। साहित्य

में इसी प्रकार दोहा आदि छंदों, गजल, हाइकू आदि की स्वतंत्र सत्ता है। लघुकथा यदि एक तीखा व्यंग्य, एक लघु अनुभूति तथा जीवन-दर्शन का एक लघुत्तम तत्व भी हृदय में उतार देती है तो मेरे विचार में वह एक सार्थक एवं सफल लघुकथा है। लघुकथा के लघु रूप में जितना समा सकता है, उतना ही तो समाएगा। लघुकथा में महाकाव्य तो नहीं समा सकता, और न जीवन का व्यापक परिदृश्य। लघुकथा अपनी परिधि और सीमा में यदि जीवन के एकलघु क्षण को भी जीवंत तथा अनुभूतिमय बना देती है तो वह अपनी कसौटी पर खरी है। यदि वह आधी-अधूरी या परजीवी होती तो समाप्त हो गई होती।

मानस - लघुकथा और पाश्चात्य शॉर्ट स्टोरी में क्या अंतर है ?

गोयनका जी - साहित्य में कथा का एक परिवार है। इसमें उपन्यास, कहानी, लघुकथा आदि सब शामिल हैं। पश्चिम में जिसे शॉर्ट स्टोरी कहा गया, उसे हिंदी में 'कहानी' के नाम से संबोधित किया गया। प्रेमचंद ने ऐसा ही किया है। लघुकथा इससे भिन्न है।

मानस - कहानी और लघुकथा के मध्य कोई-न-कोई विभाजक रेखा है, वह क्या है, कैसी है?

गोयनका जी - यह सही है कि कहानी एवं लघुकथा एक ही कुल की संतानें हैं, परंतु दोनो स्वतंत्र विधाएँ हैं। यह भी ध्यान रहे कि लघुकथा कहानी का छोटा रूप नहीं है। वास्तव में, दोनों की रचना-प्रक्रिया भिन्न है, दोनों की अनुभूतियों के स्वरूप में अंतर है तथा शैल्पिक कौशल में भी अंतर है। वस्तु, जीवन-दर्शन, शिल्प सभी में अंतर है।

मानस - लघुकथा जैसी सूक्ष्मतम कथात्मक विधा की आवश्यकता कैसे हुई होगी? इसके उत्स और विकसित होने के पीछे कौन-सा दबाव रहा होगा?

गोयनका जी - लघुकथा आज के युग की आवश्यकता है। आज मीडिया और दूरदर्शन ने मुद्रित शब्दों का महत्व कम कर दिया है और जीवन की व्यस्तता एवं तनावों से भी लंबी साहित्यिक रचनाओं का माहौल कम हो गया है। अब जनता पढ़ना कम, देखना अधिक चाहती है, लेकिन जीवन के सत्यों तथा उसके दुष्कर्मों को जानने की उत्सुकता बनी हुई है। लघुकथा ने आकर जनता की इस मनोवृत्ति को संतुष्ट किया और उसने पाठक के सम्मुख जीवन की लघु रंग-बिरंगी छवियों तथा छोटे-छोटे महाभारतों के चित्रण से उसे संवेदनात्मक तृप्ति प्रदान की। इसके लिए मनुष्य का जीवन क्या सम्पूर्ण प्रति एवं परिवेश उसके दृष्टि-पथ में रहा और वह उसके दु:ख-दर्द तथा संस्कारों, तनावों, विसंगतियों और आशा-बिंबों का चित्र खींचता रहा। लघुकथा का उत्स एवं विकास इन्हीं प्रमुख कारणों से हुआ जो अभी तक चल रहा है।

मानस - लघुकथा विधा के मूल में (खासकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में) वह कौन-सी परंपरा रही होगी जिससे वह आज (धीरे-धीरे) हिंदी की लगभग तमाम विधाओं में पाठकों के अधिक करीब जा पहुँची है?

गोयनका जी - भारत में लघुकथाएँ प्राचीनकाल से चली आ रही हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' की छोटी-छोटी कथाएँ तथा 'पंचतंत्र' एवं 'हितोपदेश' की लघुकथाएँ हमारे लोकजीवन में सैकड़ों वर्षों से चली आ रही हैं। हमारे परिवारों में दादी-नानी भी राजा-रानी,

राजकुमार-राजकुमारी, पशु-पक्षियों आदि की असंख्य कहानियाँ भी बच्चों को सुनाती रही हैं। इस प्रकार भारत में तो लोककथाओं, कहावतों आदि की लंबी परंपरा विद्यमान है और मुझे यह उचित प्रतीत होता है कि आज की लघुकथाओं को इसी परंपरा में देखना चाहिए।

मानस - लघुकथा की प्रसिद्धी या पहुँच के पीछे कौन-सा रहस्य है?

गोयनका जी - लघुकथा एक-दो मिनट में ही जीवन के एक सत्य से हमारा साक्षात्कार कराती हैं। यह संभव है कि हम उस सत्य को पहले से जानते हों, परंतु लघुकथा हमें साक्षात् घटित होता दिखाती है। यह उसकी प्रसिद्धि का मूल कारण है। मैं स्वयं पत्रिका में सबसे पहले लघुकथा पढ़ता हूँ, क्योंकि मैं कम-से-कम समय में जीवन के सत्य को कलात्मकता के साथ जान सकता हूँ। लघुकथा का संक्षेप में जीवन-सत्य से पर्दा उठाना उसकी प्रसिद्धि का मूल कारण है।

मानस - आप लघुकथा को किस तरह एक स्वतंत्र विधा के रूप में देखते हैं, जबकि उसका कोई अभिप्रमाणित या बहुमान्य शास्त्र ही आम साहित्यकारों तक नहीं पहुँच सका है?

गोयनका जी - साहित्य-शास्त्र के ज्ञान से रचनात्मकता उत्पन्न नहीं होती। वाल्मीकि के मुख से जब आदि कविता का जन्म हुआ था तब उन्हें क्या छंद-शास्त्र का ज्ञान था? अत: लघुकथाकारों को यदि लघुकथा का शास्त्र एवं उसके रचना नियम ज्ञात हो जाएँ तो उनसे विधा की जानकारी मिलेगी, परंतु लघुकथा को कला-कृति बनाने के लिए तो ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा ही काम आएगी। रही लघुकथा के एक स्वतंत्र विधा होने की बात, तो पहले यह जानें कि यह कथा-कुल की एक सदस्य है, लेकिन उपन्यास, कहानी के समान यह भी अपने रचना-तंत्र में स्वतंत्र है और इसके रचना-उपकरणों का स्वरूप एवं सत्ता भिन्न प्रकार की है।

मानस - मैं इसलिए यह पूछ रहा हूँ क्योंकि मुझे नहीं लगता कि हमारे साहित्य के आलोचक उसकी पड़ताल उस तरह से करते हैं जिस तरह से अन्य विधाओं की ओर उनकी रुचि परिलक्षित होती है।

गोयनका जी - आपकी बात सच है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि हिंदी के बड़े माने जाने वाले आलोचकों ने लघुकथा की उपेक्षा की है, लेकिन इससे यह न माना जाए कि लघुकथा कोई विधा नहीं है और उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। हिंदी में नए आंदोलनों तथा नई विधाओं के साथ ऐसा ही दुर्व्यवहार रहा है तथा लघु विधाओं को उनकी लघुता के कारण बहिष्कार तक किया गया है। हमारे आलोचक महान एवं महत्तम की आलोचना से स्वयं को महान बताते हैं और लघुत्तम के साथ तो केवल लघु आलोचक ही जुड़ता है, परंतु गांधी को देखो जो लघु मानव एवं साधारण देशवासी बन कर ही 'महात्मा' बनता है।

मानस - एक नया रचनाकार यदि लघुकथा के आकार की दृष्टि से ले, तो वह उसे किस रूप में सिद्ध कर सकता है?

गोयनका जी - लघुकथा हो या महाकाव्य, उसका आकार निर्धारित नहीं किया जा सकता। काव्यशास्त्रियो ने महाकाव्य के नियम बनाए, पर वे बराबर टूटते रहे हैं। अत: यदि लघुकथा की शब्द-सीमा अथवा आकार को तय करना कठिन है। फिर भी सामान्य रूप से इसकी सीमा-मानस -मानस - शब्द तक हो सकती है। कहानी की तुलना में लघुकथा में जो लघुता है,

उसकी रक्षा होनी चाहिए, परंतु लघुकथा में जो 'कथा' है, उसकी विद्यमानता भी आवश्यक है। ऐसी स्थिति में चुटकुले, मुहावरे आदि जो कथाविहीन हों, लघुकथा नहीं कहला सकते।

मानस - लघुकथा की विषयवस्तु में मुझे विविधता नहीं दिखाई देती, बनिस्बत अन्य विधाओं के, आप इसे लघुकथा की सीमा मानते हैं या विशेषता?

गोयनका जी - मेरा अनुभव इसके विपरीत है। यह तो सच है कि लघुकथा में विषयवस्तु की बहुत आवृत्ति है, परंतु विषयों का एक व्यापक संसार उसके पास है। जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जो लघुकथा में न हो, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि नए नए संदर्भों और संवेदनाओं की खोज नहीं करनी चाहिए। लघुकथा की जीवंतता तथा प्रासंगिकता के लिए आवश्यक है कि वह नित नवीन रहे।

मानस - कहानी आदि गद्यात्मक विधाओं में शिल्प की वैराइटी की विस्तृत संभावना के बरक्स लघुकथा की रचना-प्रक्रिया में शिल्प की सीमाओं की एक कमजोरी कम-से-कम मैं एक सामान्य साहित्य-सेवी पाठक के रूप में महसूस करता हूँ। क्या ऐसा महसूस करना मेरी अल्पज्ञता है या लघुकथा की सीमा है ?

गोयनका जी - आपका यह कहना ठीक है कि कहानी में शैल्पिक वैविध्य है, परंतु मैं ऐसा नहीं मानता कि लघुकथा में शैल्पिक एकरसता है और उसमें कहानी जैसी विविधता नहीं है। लघुकथा कहानी की छोटी बहन है, एक ही कुल की संतानें हैं। अतः लघुकथा, कहानी की शिल्प-रचना के उपकरणों को अपना सकती है। कहानी की शिल्पगत प्रवृत्तियाँ एवं प्रणालियाँ लघुकथा भी अपना सकती है। यह तो लघुकथाकार पर है कि वह उनका प्रयोग करके उन्हें लघुकथा की शिल्प-रचना का अंग कैसे बना सकता है।

मानस - लघुकथा की भाषा-शैली को लेकर कई तरह की बातें की जाती हैं। आप एक आदर्श भाषा-शैली के बारे में क्या कहना चाहेंगे ?जबकि हम पहले ही जान चुके हैं कि लघुकथा के यहाँ शिल्प की विविधता के लिए बहुत ज्यादा स्पेस की गुंजाइश नहीं है।

गोयनका जी - साहित्य में 'आदर्श भाषा-शैली' का प्रश्न उठाना पूर्णतः अनावश्यक है, क्योंकि एक लेखक के लिए अपनी भाषा-शैली तो आदर्श हो सकती है, लेकिन सबके लिए नहीं। प्रेमचंद की भाषा हिंदी की आदर्श भाषा मानी गई, फिर भी हम दूसरा प्रेमचंद पैदा नहीं कर पाए। लेखक के लिए भाषा-शैली एकदम निजी मामला है, तभी 'स्टाइल' उसकी निजी पहचान बनती है, फिर भी भाषा-शैली ऐसी हो जो पाठक समझ सके तथा लघुकथा का बिम्ब उसके मन पर अंकित कर सके।

मानस - लघुकथा को हम और खासकर नई सदी की सबसे लोकप्रिय विधा के रूप में लेते हैं, उसे प्रतिष्ठित और सर्वमान्य विधा के रूप में लेते हैं, फिर भी लघुकथा की आलोचना की स्थिति बहुत दयनीय है, ऐसा क्यों? इसके प्रति आलोचकों की बेरुखी के पीछे कौन जिम्मेदार है, स्वयं लघुकथाकार, विधागत शिविरबाजी, विधा का वजन, आलोचकों की अभिरुचि या फिर कुछ और? जबकि आज के पाठकों में इसके प्रति कहीं अधिक श्रद्धा या आकर्षण है।

गोयनका जी - मैं आलोचकों के संबंध में पहले कुछ कह चुका हूँ। यह सच है कि

आलोचक लघुकथा के प्रति उदासीन हैं। लेकिन मुझे लगता है कि लघुकथाकारों को इसकी चिंता छोड़ देनी चाहिए। आप ऐसी श्रेष्ठ लघुकथाएँ लिखें कि आलोचक स्वत: ही चले आएँ। इसके साथ देश में प्रत्येक वर्ष लघुकथाकारों के सम्मेलन करें और आलोचकों को आमंत्रित करें, गुटबंदी कम करें, अच्छी पत्रिकाएँ निकालें और बराबर संवाद करते रहें। इसे संघर्ष-काल समझें और स्वयं के स्थान पर लघुकथा की प्रतिष्ठा, पहचान और पठनीयता के लिए संगठित रूप से काम करें। आलोचक भागा हुआ आएगा।

मानस - ऐसे में, क्या मैं आपसे जान सकता हूँ कि लघुकथा की प्रभावान्विति को आप कैसे सिद्ध करना चाहेंगे? पाठक के लिए वहाँ न तो कथा-नायक की छवि अंकित है, न ही वह कथा के सम्पूर्ण परिवेश, परिस्थिति, विडम्बनाओं तक अपनी पहुँच कायम कर सकती है?

गोयनका जी - साहित्य में प्रभावान्विति अथवा रसास्वादन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है और वह काव्यशास्त्रियों के अनुसार 'ब्रह्मानंद सहोदर' है। अत: इसे सिद्ध करने की प्रक्रिया शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। यह अनुभूति का विषय और लघुकथा में नायक, परिवेश आदि के अभाव में सहृदय पाठक उनकी कल्पना करके दृश्य तथा प्रसंग को पूर्ण कर लेता है। इस प्रकार प्रभावान्विति में पाठक की कल्पना तथा साहित्य-संस्कार का भी योगदान होता है।

मानस - साहित्य की दुनिया में एक वर्ग साहित्यकार के सरोकार की जमकर वकालत करता रहा है। लघुकथा में एक लघुकथाकार अपने समकालीन सरोकार को किस तरह रखता रहा है? उसे इस सीमा में कहाँ तक सफलता मिलेगी? क्या सरोकारविहीन लघुकथा लेखन की स्वतंत्रता संभव है? यदि हाँ, तो वह किस तरह? भविष्य में लघुकथा का सरोकार किस तरह चरितार्थ होगा?

गोयनका जी - हिंदी में प्रगतिशील वर्ग साहित्यकार के सरोकार का प्रश्न उठाता रहा है, परंतु इनके सरोकार साहित्यिक नहीं राजनीतिक हैं। दूसरे वे स्वयं अपने जीवन में उनका पालन नहीं करते। ये लोग साहित्य का उपयोग अपनी राजनीति के लिए करते हैं, जबकि प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य, राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है। हमारे प्रगतिशील लेखक प्रेमचंद के ऐसे कथनों के सम्मुख आँखों पर पट्टी बाँध लेते हैं। साहित्य का संबंध मनुष्य और उसके समाज से है और वह सदैव रहेगा। इसके लिए किसी घोषणा या प्रतिज्ञा की आवश्यकता नहीं है। तुलसीदास ने 'रामचरित मानस -' चाहे स्वांत: सुखाय लिखी, किंतु वह सर्वजन हिताय ही लिखी गई थी। अत: लेखक अपने समय के साथ जीता है तो उस समय के सरोकार, चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ सभी उसके व्यक्तित्व में समाए रहते हैं। अत: मैं किसी सरोकारविहीन रचना की कल्पना नहीं कर सकता। भविष्य का लघुकथाकार कोई नया प्राणी नहीं होगा और वह समाज के बीच रहकर ही जीवन जीयेगा। लघुकथाकार जब तक जीवन और प्रकृति से जुड़ा है, उनसे जुड़े सरोकार भी उसकी आत्मा में अंकित रहेंगे ही, चाहे वह उनसे मुक्त होने की घोषणा करे।

मानस - इधर साहित्य (अन्य विधाओं में) नए-नए विचार-वादों की अनुगूँज लगातार सुनाई दे रही है। लघुकथा के धरातल से खड़े होकर आप नारी विमर्श, दलित चेतना आदि अवधारणाओं को किस तरह मूल्यांकित करते हैं? या ये केवल हितनिष्ठ कल्पनाएँ हैं?

गोयनका जी - साहित्य में नए-नए विचार-वादों और आंदोलनों का एक लाभ यह है कि

साहित्य-जगत में हलचल होती है, संवाद होता है और इस मंथन से कुछ तत्व निकलता है, परंतु आज हमारे राजेन्द्र यादव जैसे प्रगतिशील लेखक नारी एवं दलित-विमर्श का जो झंडा उठाकर नारेबाजी कर रहे हैं, वह केवल स्वयं को इनका मसीहा बनाने तथा अपने को चर्चा में रखने एवं 'हंस' पत्रिका की बिक्री बढ़ाने के लिए है। नारी-विमर्श तो राजा राममोहन राय के युग से चल रहा है और साहित्य में प्रेमचंद ने पहली बार अपने उपन्यासों एवं कहानियों से नारी को आधुनिक आयाम दिया और उसकी स्वतंत्र पहचान के लिए आवाज उठाई, परंतु वे राजेन्द्र यादव के समान नारी को केवल शरीर तथा भोग की वस्तु मानने को तैयार न थे। राजेन्द्र यादव तो नारी को अपने शरीर को किसी भी रूप में भोग करने की आजादी देते हैं और इसके लिए वे 'हासिल' जैसी कहानी लिखते हैं। पश्चिम में नारी की स्वच्छंदता एवं सैक्स-मुक्ति के भयानक दुष्परिणाम सामने आ गए हैं, परंतु ये प्रगतिशील ऐसी ही भोगवादी स्वतंत्रता चाहते हैं, जिसमें वे किसी भी नारी को हासिल कर सकें। जहाँ तक दलित-विमर्श का प्रश्न है, उसमें प्रेमचंद अग्रणी हैं। स्वामी विवेकानन्द ने सबसे पहले दलितों की मुक्ति का आह्वान किया था और उसके बाद गांधी ने तथा साहित्य में प्रेमचंद ने अछूतोद्धार का मंत्र जन-जन में उतार दिया। अब हमारे दलित लेखक स्वानुभूति की बात करते हैं, तो इसमें इतना तो सच है जो अनुभव करता है, वही उसकी पीड़ा को जानता है, परंतु परानुभूति को नकारना साहित्य की मूलभूत प्रति को नकारना है। अनुभूति 'स्व' की हो या 'पर' की, यदि वह सच्ची है तो वह साहित्य ही है। इसके साथ दलित-विमर्श के इतने आयाम खुल गए हैं कि उन पर विचार करना आवश्यक है। लघुकथा को भी इन प्रश्नों को उठाना चाहिए, फैशन के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिबद्धता के रूप में।

मानस - नए समय में, मेरा मतलब 21वीं सदी (पिछले 6-7 वर्षों) की लघुकथाओं को आप पिछली सदी की तुलना में कैसे भिन्न प्रवृत्ति वाली सिद्ध करना चाहेंगे। मुझे तो लगता है कि यहाँ दोहराव ही नजर आता है, कथावस्तु में भी और शिल्प में भी।

गोयनका जी - सदियों के बदलने से साहित्य नहीं बदलता। मनुष्य के समाज में तथा प्रति में कोई अकल्पनीय घटना घटित होती है तो साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ता है। इंदिरा गांधी ने जब इमर्जेंसी लगाई तो एक लाख से अधिक लोग जेल में बंद कर दिए गए। दिल्ली विश्वविद्यालय के लगभग तीन सौ प्रोफेसरों को एक ही रात में गिरफ्तार किया गया, जिनमें मैं भी शामिल था। तब इमर्जेंसी पर साहित्य की रचना हुई और पाठकों को भिन्न प्रकृति की रचनाएँ मिली। इसी प्रकार सुनामी लहरों ने जो विध्वंस किया, उस पर भी कविताएँ, कहानी, लेख आदि लिखे गए। इक्कीसवीं सदी का आना कोई ऐसी घटना नहीं है जिसने मनुष्य के मनोभावों एवं विचारों को उद्वेलित किया हो। अत: लघुकथा की कथावस्तु तथा शिल्प में कोई परिवर्तन होना संभव नहीं है। अत: इस संबंध में आपका सोचना ठीक ही है।

मानस - नए समय के संभावनाशील रचनाकारों की यदि मैं आपसे एक सूची माँगूं तो उस सूची में आप किन-किन को समादृत करना चाहेंगे और क्यों?

गोयनका जी - कृपया इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा मुझसे न करें। एक बार मैंने ऐसे ही प्रश्न के उत्तर में कुछ लघुकथाकारों के नाम बताए थे तो कुछ लोग नाराज हो गए थे। इस संबंध में मैं केवल यह कहना चाहूँगा कि विगत आठ-दस वर्षों से जो नए लघुकथाकार सामने आए हैं, उन्हें

अपनी पहचान बनाने के लिए अभी काफी परिश्रम करना होगा, उन्हें निरंतर लिखना और प्रकाशित करना होगा और लघुकथा में कुछ नई ऊर्जा भरनी होगी। नए रचनाकारों को कुछ तो नया करके दिखाना होगा। आप तो छत्तीसगढ़ में हैं, आप क्यों नहीं वनवासियों के जीवन को केंद्र बनाकर लघुकथाएँ लिखते ? इसी प्रकार साधुओं, वकीलों, डॉक्टरों, प्रोफेसरों, छात्रों आदि का क्षेत्र अछूता पड़ा है। आप इनके जीवन में उतर कर देखेंगे तो लघुकथाओं का भण्डार मिलेगा।

मानस - भविष्य में लघुकथा का भविष्य क्या होगा? अति आधुनिकता या फिर उत्तर आधुनिक समय में (यदि वह कहीं सत्याश्रित अवधारणा है तो) लघुकथा के भी चूक जाने के बारे में आप क्या कहना चाहेंगे? ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि उत्तर आधुनिकता के पक्षधार चीखे जा रहे हैं कि उस दौर में साहित्य भी स्वयं एकदम हाशिये पर चला जाएगा।

गोयनका जी - यह उत्तर आधुनिकता क्या है? आपने इसे कहीं देखा है? जो लोग चीख-चीख कर मुनादी कर रहे हैं कि भारत में उत्तर आधुनिकता का आक्रमण हो गया है, क्या वे तथा उनका परिवार इस उत्तर आधुनिकता को अपने जीवन में अनुभव कर रहा है? भारत की बहुसंख्यक जनता, जो गाँवों और छोटे कस्बों में रहती है, वह तो अभी तक आधुनिक भी नहीं हुई है। अत: उनके संदर्भ में उत्तर आधुनिकता एक मजाक ही नहीं उनमें हीनता-बोध को पैदा करना है। आधुनिकता एक निरन्तर प्रवाहवान प्रक्रिया है, जो एकदम नया रूप ग्रहण नहीं करती। आधुनिकता कभी इतनी अतिआधुनिक या उत्तर आधुनिक नहीं हो सकती कि परंपरा से पूर्णत: विच्छिन्न तहो जाए और मनुष्य की विगत बौद्धिक उपलब्धियों और परंपरागत जीवन-मूल्यों से नाता तोड़ दे। यह तो तभी संभव होगा जब महाप्रलय के बाद धरती पर नया जीवन शुरू होगा। इन उत्तरआधुनिकतावादियों से पूछें कि यह उत्तरआधुनिकता का युग कितने वर्ष चलेगा, इसका युग कब समाप्त होगा और क्या उसके बाद उत्तरआधुनिकता का नया युग आएगा? अत: मेरे विचार में उत्तरआधुनिकता का विचार भ्रामक और मूर्खतापूर्ण है, इसलिए साहित्य के नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं। ईश्वर तथा साहित्य की मृत्यु की घोषणा अनेक बार हो चुकी है, परंतु वे आज तक जीवित हैं। रूस में चर्चों के दरवाजे बंद कर दिए थे, लेकिन वे दरवाजे फिर खुल गए। मार्क्सवाद में धर्म को अफीम कहा गया था, और इस अफीम ने ही रूसकी धरती से मार्क्सवाद को नष्ट कर दिया। कोई भी काल हो, साहित्य जीवित रहेगा। मनुष्य में संवेदनाएँ रहेंगी तो साहित्य भी रहेगा और लघुकथा भी रहेगी। आप उत्तर आधुनिकतावादियों को भौंकने दीजिए, लघुकथाएँ लिखते रहिए, लेकिन यदि उनका भौंकना शान्ति भंग करे और काटने को दौड़ें तो पागल कुत्ते के साथ जो व्यवहार किया जाता है, वही करिए।

मानस - भविष्य में नई विषयवस्तु की संभावना की दृष्टि से लघुकथा का विस्तार किस तरह संभव है, जबकि मानव जगत में घटनाओं, विडम्बनाओं, विद्रूपताओं आदि की प्रवृत्ति तो वही हैं। आम मनुष्य की दिशा भी प्रकारान्तर से जस के तस हैं।

गोयनका जी - यह ठीक है कि प्रकट में हमें आम आदमी का जीवन एक-सा दिखाई देता है, परन्तु ऐसा तो तुलसीदास, बिहारी, भारतेन्दु, प्रेमचंद, प्रसाद, रेणु आदि सभी रचनाकारों के समय में भी था। इस एकरस जीवन में भी ऐसी अनंत अदृश्य छवियाँ हैं जिन्हें रचनाकार पकड़ सकता है। मनुष्य के मन को हम आज भी कितना जानते हैं? वह असंख्य अज्ञात इच्छाओं,

प्रतिक्रियाओं और दमित भावनाओं का भण्डारक है। आप जरा इसमें कूदें तो आपको विषयवस्तु का ऐसा भण्डार मिलेगा कि आप आश्चर्यचकित रह जाएँगे। अत: यह आवश्यक है कि हम नए अज्ञात प्रसंगों को खोजें, जो हमारी आँखों से ओझल हैं, उन्हें तलाश करें और मनुष्य के अचेतन मन के दरवाजे खोले। अब लघुकथा को बाहरी यात्रा के साथ-साथ मनुष्य के अंतर्मन की यात्रा करनी पड़ेगी और आप पाएंगे कि इस यात्रा में अनन्त विषय आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इसके साथ ही लघुकथाकारों को पुराने विषयों को भी नई दृष्टि से देखने और लिखने की आदत बनानी चाहिए। विषय चाहे पुराना हो, पर दृष्टि नवीन होनी चाहिए।

मानस - यह ठीक है कि आज हिंदी के बड़े-बड़े कथाकार स्वयं लघुकथा लिख रहे हैं, पत्र-पत्रिकाओं में भी उन्हें समात किया जा रहा है, पर उसमें उसके फिलर जैसी सुविधा या गुण का कितना रोल है?

गोयनका जी - यह शुभ लक्षण है यदि बड़े लेखक लघुकथा लिख रहे हैं। इसके लिए उन्हें और प्रेरित करना चाहिए। आप इसकी चिन्ता न करें कि लघुकथा फिलर के रूप में छपती है, परन्तु सभी हिंदी पत्रिकाएँ ऐसा नहीं करती हैं। हमारा हित इसमें है कि संपादक को उनकी आवश्यकता बनी रहे और वे छपती रहें। आप लघुकथा की पत्रिका निकालें और उन्हें शान से महत्वपूर्ण पृष्ठों पर छापें, आपको कौन रोक सकता है? आज पत्र-पत्रिकाओं की एक आवश्यकता है लघुकथा, तो आप बताएँ क्या लघुकथा की विजय का द्योतक नहीं है? लघुकथा अब एक अपराजेय विधा है, उसका साम्राज्य बढ़ रहा है और इसके लेखक यदि उच्चकोटि की लघुकथाएँ देते हैं और अपने लघुकथा-समाज को एकजुट बनाकर रख सकें तो लघुकथा की लोकप्रियता और आवश्यकता भविष्य में बनी रहेगी।

मानस - लघुकथा में विशेषज्ञता हासिल एक वरिष्ठ रचनाकार, आलोचक होने के नाते आप एक नए लघुकथाकार को क्या-क्या पाठ तथा क्या-क्या हिदायतें देना चाहेंगे।

गोयनका जी - मेरा नम्र निवेदन है कि पहले जीवन को देखें, भोगें और फिर अनुभूतियों को परिपक्व होने दें और जब उद्दाम आवेग उठे तब ही कलम उठाएँ। साहित्य खूब पढ़ें, जो मिले उसी को पढ़ें और जीवन-भर पढ़ते रहें, हिंदी के अलावा अन्य भाषाओं का भी पढ़ें। पर लिखने पर नकल न करें। अपनी रचना-प्रक्रिया एवं जीवन-दृष्टि को विकसित करें और जो मनुष्य का, समाज और देश का शुभकारी हो, उसे आत्मा का अंग बनाएँ। रचनाओं को प्रकाशित कराते रहें, उनके न छपने पर हतोत्साहित न हों, प्रयत्न फिर-फिर करते रहें। अपने समकालनी लेखकों से प्रेम संबंध बनाएँ और संवाद कायम करें। किसी से कुछ लें, कुछ सीखें तो स्वयं भी नए लेखकों के साथ ऐसा ही व्यवहार करें और यह मानकर चलें कि सिद्धि और यश साधना से ही मिलता है।

जयप्रकाश मानस, एफ–3, आवासीय परिसर, छत्तीसगढ़ माध्यमिक शिक्षा मंडल, पेंशनवाड़ा, रायपुर, छत्तीसगढ़–492001, मो. : 9424182664

✧ ✧ ✧

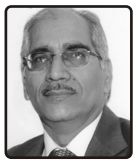

मदारीपुर जंक्शन-ख्यात उपन्यासकार बालेन्दु द्विवेदी से ओम निश्चल की बातचीत

ओम निश्चल

परिपक्वता किसी दुकान पर बिकने वाली चीज नहीं है, और न ही यह गूगल पर निरंतर बने रहने से आती है

ज्यादा दिन नहीं हुए मदारीपुर जंक्शन को छपे। पर मात्र छह माह की अवधि में अपनी लोकप्रियता, पाठकीयता, बिक्री व सराहना के नए मानदंड रचने वाली यह कृति उपन्यासों के बीच खासी चर्चा में है। इस बीच इसके नाट्य रूपांतर भी हुए और मंचन भी तथा अन्य कुछ भाषाओं में अनुवाद भी हुए और हो रहे हैं। व्यंग्य उपन्यास राग दरबारी के बाद उसी प्रजाति के औपन्यासिक कथ्य के लिए बालेन्दु द्विवेदी को बहुत उत्सुकता से देखा जा रहा है। यद्यपि रागदरबारी जिस बड़े फलक का औपन्यासिक कथ्य कोलाज के रूप में रचता है, मदारीपुर जंक्शन गांव में होने वाले प्रधानी के चुनाव को केंद्र में रखता है। तथापि शैली की नूतनता और किस्सागोई वैसी ही है जैसी राग दरबारी की।

चर्चा में छाए युवा कथाकार बालेन्दु द्विवेदी की लेखकीय पृष्ठभूमि को लेकर ओम निश्चल की एक बातचीत।

ओम निश्चल-पैदाइश, तालीम व लेखन की क्या पृष्ठभूमि रही है?

बालेन्दु द्विवेदी-मैं मूलतः गोरखपुर जिले के कभी अत्यंत मशहूर रहे गाँव ब्रह्मपुर का रहने वाला हूँ। गाँव में ही पैदा हुआ और गाँव की गलियों में गुल्ली - डंडा, कबड्डी, चिक्का, थोड़ा - बहुत क्रिकेट खेलकर बड़ा हुआ हूँ। मेरा गाँव और वहाँ की माटी एक-एक संस्कार मेरे रगों में रचा-बसा है। मेरी पढ़ाई हाईस्कूल तक मेरे ही दादा-परदादाओं की बनाई शिक्षण संस्था से हुई है।

जहाँ तक लेखन की बात है तो मैं बताना चाहूँगा कि मैं इंटर तक साइंस का विद्यार्थी था और इसके बाद जब ग्रेजुएशन करने इलाहाबाद आया तो साथियों ने आर्ट्स के विषय दिलवा दिए।हिंदी भी उनमें से एक थी। लेकिन मेरे भीतर साहित्य की समझ न के बराबर थी। मैं हिंदी साहित्य को भी केमिस्ट्री के सूत्रों की तरह रटता था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो. राजेन्द्र कुमार वह पहले शख्स थे जिनके अध्यापकीय संसर्ग ने मेरे भीतर साहित्य के प्रति चाह पैदा की।

लेकिन मैं कभी साहित्यिक क्षेत्र में कलमकारी कर सकूँगा, इसका आत्मविश्वास मुझे कभी नहीं था। और आप विश्वास मानिए मैंने आजतक बमुश्किल दस उपन्यास भी नहीं पढ़े होंगे।लेकिन प्रेमचंद के गोदान को कम से कम सौ बार पढ़ा है और उनकी कफन आदि कहानियों को पढ़कर कई बार भावुक होकर रोया भी हूँ।

दरअसल मुझे लगता था कि लेखक जन्मजात होते हैं और उनके लिए लेखन के लिए कच्चा माल आसमान से टपकता है। लेकिन २००७–०८ के आसपास मैंने आदरणीय श्रीलाल शुक्ल का एक इंटरव्यू पढ़ा जिसमें उन्होने कहा कि जब वे नौकरी के शुरुआती दिनों में गोरखपुर के बाँसगाव तहसील में बतौर एसडीएम तैनात थे तो रोजमर्रा की दिनचर्या में उनसे मिलने-जुलने आने वाले लोगों को उन्होने 'राग दरबारी' का पात्र बनाया। बस क्या था..! मुझे मेरा गाँव याद आया और उसमें रचने-बसने वाले वे तमाम चरित्र भी जो मेरे लिए साहित्य की सामग्री बनने को तैयार थे। बस यहीं से शुरुआत हो गई।

लिखना कब शुरु हुआ। वह पहली रचना क्या थी जिसने आपको रेखांकित किया तथा आप इस राह पर चल पडे?

२००५ में छिटपुट व्यंग्य कवितायें लिखना शुरू किया था। वर्ष २०१० में नौकरी छोड़ने का ख्याल आया मैं अपने एक दोस्त के साथ मुंबई फिल्म राइटर्स एसोसिएशन का सदस्य बनने मुंबई पहुँच गया ताकि जीविका की वैकल्पिक व्यवस्था कर सकूँ। एक साल में लगभग एक दर्जन स्क्रिप्ट्स लिख डालीं। लेकिन यह मार्ग भी 'ले दही-ले दही' जैसा लगा। तब मन में ख्याल आया कि कुछ स्थायी काम किया जाय। २०११ में सबसे पहले उपन्यास का आत्मकथ्य लिखकर अपने भीतर के साहित्यकार को चेक करना चाहा कि यह गाड़ी भी आगे तक चल पाएगी या नहीं। लेकिन लिखकर अपने लेखन को लेकर आश्वस्त हुआ फिर मदारीपुर-जंक्शन को लिखने की गुस्ताखी कर डाली।

मदारीपुर जंक्शन लिखने के पीछे क्या कुछ मन में था? कौन सी प्रेरणा थी जिसके वशीभूत होकर आपने इसे लिखा?

'मदारीपुर जंक्शन' को लिखते समय एक ख्याल बार बार दिमाग में रहा कि किसी पूर्वाग्रह के वशीभूत होकर नहीं चलना है। हिंदी में तमाम विमर्श चल रहे हैं-जैसे दलित विमर्श, महिला लेखन। मुझे ये सब बनावटी और प्रायोजित लगते हैं। क्योंकि ये सभी विमर्श और आन्दोलन आत्मालोचन के बजाय आत्ममुग्धता के शिकार हैं। इनको समाज के दूसरे हिस्से को कोसने की कलाकारी तो खूब आती है पर अपने गिरेबान में झाँकने और उसकी खणमियों को उघाड़ने का आत्मबल इनमें नहीं है। मैंने एक ऐसे विषय को अपने उपन्यास के केंद्र में रखा है जिसमें मैंने स्वयं को और अपने समाज को भी नग्न करके दिखाया है। मैं सामंती संस्कारों के साथ पैदा तो जरूर हुआ पर मेरा मैं, स्वयं को सदैव समाज के मजलूमों-बेकसों के साथ खड़ा पाता है। यही मेरे लेखन की शक्ति है-संजीवनी है। और यह ओढ़ा हुआ या बनावटी कतई नहीं है।

हिंदी में व्यंग्यात्मक उपन्यास बहुत कम हैं- 'राग दरबारी', 'हम न मरब' व ज्ञान चतुर्वेदी के कुछ अन्य उपन्यास। पर इस उपन्यास में व्यंग्यात्मक लहजा अपनाने के पीछे क्या वजह रही?

आपको सच बताऊँ तो मुझे हिंदी साहित्य के व्यंग्य उपन्यासों की फेहरिस्त का भी ज्ञान नहीं है। लेकिन इतना जरूर मालूम है कि बडे रचनाकारों ने भी असीम संभावनाओं के बावजूद फुटकर लेखन से ही काम चलाया, जबकि वे चाहते तो उपन्यासकार के रूप में साहित्य को बहुत कुछ दे सकते थे। लेकिन उपन्यास दरअसल बहुत धीरज और कलेजे वाला काम है। यह आपकी

रगों से सारा रक्त निचोड़ लेता है। इसलिए बहुतेरे प्रतिभावान होने के बावजूद यह दुस्साहस नहीं जुटा पाते।

जहाँ तक शैली की बात है तो आप को बेहतर मालूम होगा कि शैली अपनाई या सीखी नहीं जा सकती। क्योंकि 'स्टाइल इज द मैन इटसेल्फ'। व्यंग्यात्मकता मेरे स्वभाव में हैं, विद्रूप में भी सौंदर्य तलाश कर लेना मेरे जेहन का हिस्सा है। इस लिहाज सें मैं केवल मैं हूँ। मैं जीता-जागता, चलता-फिरता व्यंग्य हूँ।

यह एक तरीके से प्रधानी के चुनावी संग्राम के बहाने बदलते गांवों की कहानी भी है पर दूसरे अर्थो मे गांव देहात के राजनीतिक माहौल का आंखों देखा हाल भी है। इस अर्थ में आप इसे हिंदी के मौजूदा उपन्यासों में किसके बगल रखना चाहेंगे?

देखिए..! मैंने अपने उपन्यास के आत्मकथ्य में ही कहा है कि मैं साहित्यकारों में दलित हूँ। तो फिलहाल मैं स्वयं को किसी के बगल बैठाने की हैसियत में नहीं हूँ। यह इसका पाठक वर्ग तय करेगा कि मदारीपुर जंक्शन को किसके बगल बैठाया जाय या फिर इसके बगल बैठने वालों की तलाश की जाय, अथवा इसे अस्पृश्य बनाकर अलग श्रेणी में डाल दिया जाय।

अपनी प्रशासनिक व्यस्तताओ के बीच लेखन से कैसे तालमेल बिठाते हैं?

बहुत कठिन काम है। दिल में कहानी चलती रहती है और दिमाग में फाइलें और मीटिग्स। कभी दिल, दिमाग को समझाता है तो कभी दिमाग दिल को मनाता है। इस आपसी लुकाछिपी के बीच दिनभर सामग्री संचयन होता रहता है और या तो देर रात में या सुबह-सुबह लेखक की कलम गुस्ताखी करने के लिए मचलने लगती है।

– क्या छिटपुट व्यंग्य लेखन भी करते हैं?

– नहीं। चाहता तो कर सकता था लेकिन शुरू से ही बडे खतरे उठाने का शौक रहा है।

– आगे क्या कुछ लिखने का इरादा है?

– एक नए व्यंग्यात्मक उपन्यास 'वाया फुरसतगंज' पर काम शुरू हो चुका है। इस बार पृष्ठभूमि इलाहाबाद की चुनी है। मैं इलाहाबाद में पंद्रह-सोलह साल रहा हूँ। वहाँ के गली-कूचों-चौराहों-जलेबियों-पकौड़ों और समोसों को उपन्यास का हिस्सा बनाना चाहता हूँ। पर इस बार प्रशासन, न्यायपालिका और शहरी राजनीति केंद्र में है।

– इसकी प्रिबुकिंग तो काफी पहले से शुरु हुई थी? पाठकों की क्या प्रतिक्रिया है इसके बारे में? कोई फीडबैक आपके पास है क्या?

जो मुझे व्यक्तिगत तौर पर या सोशल मीडिया के माध्यम से जानते थे, वे इसका एक साल से इंतजार कर रहे थे। और पाठकों का प्यार देखिए कि इसके प्रीआर्डर बुकिंग शुरू होने के एक सप्ताह के भीतर ही यह आउट आफ स्टाक हो गई। अभी तक पाठकों में से जो सबसे बड़ी प्रतिक्रिया आई है वह है मशहूर शायर मनीष शुक्ला साहब की कि-'मुझे तुम्हें यह बताते हुए बहुत खुशी हो रही है कि तुम हिंदी उपन्यास विधा के देदीप्यमान नक्षत्र बनकर उभरोगेय लेकिन मुझे डर है कि तुम अपना यह स्तरीय लेखन दोबारा दुहरा पाओगे या नहीं'।

– अन्य किन विधाओं में जाने का इरादा भविष्य में रखते है?

मुझे लगता है कि कहानियों में मेरी मारक क्षमता ज्यादा है। लेकिन बात बस वहीं आकर अटक जाती है कि 'शुरू से ही बड़े खतरे उठाने का शौक रहा है।'

– आपसे पता चला कि यह आपका पहला ही प्रयास है और निश्चय ही जबर्दस्त प्रयास है-परिपक्व लेखन का परिचायक।युवा लेखक मित्रों के लिएआप क्या कहना चाहेंगे?

– देखिए परिपक्वता किसी दुकान पर बिकने वाली चीज नहीं है और न ही यह गूगल पर निरंतर बने रहने आती है। जैसे अक्ल बादाम खाने से नहीं बल्कि ठोकर खाने से आती है, वैसे ही परिपक्वता भी जीवन में कठोर अनुभवों से गुजरने और उससे दो-दो हाथ करने से आती है। युवा लेखकों को बस यही सलाह है कि स्वयं को कभी जीवन-संघर्ष में मैदान में खुलकर कूदने का मौका न गँवायें, लिखें तो डूबकर लिखें। न तो लिखने की जल्दीबाजी करें और न छपने की। और यह भी कि थोड़ी सी तारीफ में आत्ममुग्धता के शिकार न हो जाया करें। हमेशा सीखने की ललक बनाकर रखे।

– ऐसा कोई मदारीपुर जंक्शन जैसा रुपक फिर कभी रचना चाहेंगे जो राजनीति और भ्रष्टाचार के बड़े मुद्दे को रेखांकित करे और एक ट्रेंड सेट करने का काम करे?

– मेरा अगला उपन्यास 'वाया फुरसतगंज' ही इस सवाल का जवाब दे सकेगा।

ओम निश्चल, जी–1ध्506 ए, उत्तम नगर नई दिल्ली–110059
मेल omnishchal@gmail-com, फोन 8447289976

उत्तरशती का संक्रमण और उदय प्रकाश की कहानी

डॉ. शहाबुद्दीन

उत्तरशती के दूसरे चरण के शुरू में अर्थात 1990 के आसपास सोवियत रूस के पतन की प्रक्रिया शुरू हुई। उसके टूटने के बाद शीतयुद्ध समाप्त हो गया और विश्व एक धरुवीय हुआ। भारत पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। शायद संयोग ही था कि इसी समय भारत की आर्थिक स्थिति खराब हो गई और उसे अपना सोना गिरवी रखना पड़ा। इससे फौरी समाधान तो निकला परंतु दीर्घकालिक सुधार हेतु उसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और वित्त निगमों की शर्तों पर ऋण लेना पड़ा। परिणाम स्वरूप उदारीकरण, भूमंडलीकरण और निजीकरण की प्रक्रियाएँ आरंभ हुई।

सामान्यत: हम 1975 से 2000 तक की अवधि को उत्तरशती और इस अवधि के साहित्य को उत्तरशती का साहित्य संज्ञा से संबोधित करते हैं। सभी जानते हैं कि उत्तरशती के मुख्यत: दो चरण हैं। प्रथम चरण 1975 से 1989 तक है जिसमें 'समकालीन' पद चर्चा में आया और दूसरा चरण 1990 से 2000 तक है जिसमें 'विमर्श' चिंतन के केंद्र में आया। उत्तरशती के प्रथम चरण के आरंभ में देश में आपातकाल लागू था जिसने लोकतन्त्र पर गंभीर संकट खड़ा कर दिया था। परंतु सुखद स्थिति यह थी कि इसे लेकर समाज और साहित्य में व्यापक प्रतिक्रिया हुई। अंतत: श्रीमति इन्दिरा गाँधी को आपातकाल हटाने की घोषणा करनी पड़ी। लोकतन्त्र के इस संकट से जहाँ समाजवादी आंदोलन मजबूत हुआ, वहीं वामपंथी दलों और संगठनों की विचारधारा और सैद्धांतिकी में भी इससे परिवर्तन हुआ। लोकतन्त्र और जनवादी मूल्यों को बचाने की प्रतिबद्धता के साथ 'जनवादी लेखक संघ' और 'जन संस्कृति मंच' जैसे संगठन अस्तित्व में आए। इसी दौरान 'भारतीय जनता पार्टी' जैसी दक्षिणपंथी पार्टी अस्तित्व में आई, तो 'जनता दल' जैसी जातिवादी पार्टी भी मुखर होकर उभरी। यानी 'मण्डल' की जातिवादी और 'कमंडल' की संप्रदायवादी राजनीति लगभग साथ-साथ उदित हुई। कालांतर में बहुत सी ऐसी घटनाएँ घटीं जिनसे जातिवाद और सांप्रदायिकता जैसी घृणित प्रवृतियाँ भारतीय राजनीति का अंग बन गईं। दलित राजनीति का विकास, कश्मीर में

आतंकवाद का प्रसार, अपराध का राजनीतिकरण और राजनीति का अपराधीकरण भी इसी दौर की देन थी। खलिस्तान की माँग, ऑपरेशन ब्लूस्टार, इन्दिरा गाँधी की हत्या, सिखों का नरसंहार और राजीव गाँधी की हत्या भी उत्तरशती में ही हुई। इन सभी घटनाओं और इनसे उत्पन्न हिंसा ने राजनीति ही नहीं समाज को भी शिद्दत से प्रभावित किया। कालांतर में गठबंधन की राजनीति के उदय ने समस्या को ओर जटिल बना दिया।

उत्तरशती के दूसरे चरण के शुरू में अर्थात 1990 के आसपास सोवियत रूस के पतन की प्रक्रिया शुरू हुई। उसके टूटने के बाद शीतयुद्ध समाप्त हो गया और विश्व एक धरुवीय हुआ। भारत पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। शायद संयोग ही था कि इसी समय भारत की आर्थिक स्थिति खराब हो गई और उसे अपना सोना गिरवी रखना पड़ा। इससे फौरी समाधान तो निकला परंतु दीर्घकालिक सुधार हेतु उसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों और वित्त निगमों की शर्तों पर ऋण लेना पड़ा। परिणामस्वरूप उदारीकरण, भूमंडलीकरण और निजीकरण की प्रक्रियाएँ आरंभ हुई। वस्तुत: उदारीकरण के नाम पर निजी उद्योगों और बाजार की जरूरतों के अनुरूप नीतियाँ बनने लगीं। उन नीतियों में गरीब मजदूरों और किसानों का कोई स्थान नहीं था। कई सरकारी कारखाने और उद्योग बंद कर दिये गए। निजीकरण के नाम पर बहुत सी सार्वजनिक संपत्तियों को कोड़ियों के दामों नीलाम किया जाने लगा। भूमंडलीकरण को लेकर भी लोगों में संदेह था। सच्चिदानंद सिन्हा जैसे विद्वानों ने इसे 'भूमंडीकरण' कहा। दरअसल नई अर्थव्यवस्था में बाजार, सेवाक्षेत्र और वित्तपूँजी आदि महत्वपूर्ण भूमिका में थे और इनका फोकस शहरी उपभोक्तावर्ग अर्थात युवाओं पर था। इन्होंने नया उपभोक्ता-वर्ग निर्मित करने और युवाओं की मानसिकता को उपभोक्तावादी बनाने के नियोजित प्रयास किए। इसके लिए न केवल फिल्मों-विज्ञापनों बल्कि सूचना-तकनीक का भी सहारा लिया गया। प्रायोजित कार्यक्रमों द्वारा एक ओर आभासी दुनिया का छद्म रचा गया तो दूसरी ओर 'मिस इंडिया', 'मिस वर्ल्ड' और 'मिस यूनिवर्स' जैसी प्रतियोगिताओं के आयोजन से युवावर्ग की सोच को प्रभावित किया गया। नव निर्माणाधीन व्यवस्था में स्त्री एक उपभोक्ता वस्तु की तरह उभरी। उसकी भावनाओं-विचारों से ज्यादा उसके शरीर को महत्व मिला। युवावर्ग आभासी दुनिया के रचे विभ्रमों को ही यथार्थ समझने लगा। इसे भारतीय संस्कृति पर पश्चिमी संस्कृति के बढ़ते प्रभाव के रूप में भी लिया गया।

राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति में हुए परिवर्तनों का प्रभाव भारतीय जनमानस पर भी पड़ा। लोगों की जीवन शैली और आदतों के साथ उनका चरित्र भी बदला। नवीन परिस्थितियों ने जहाँ प्रतिस्पर्धा बढ़ाई वहीं संदेह, संवेदनहीनता और तिक्तता को भी जन्म दिया। जनमानस के रागात्मक संबंधों और विचारों में भी गुणात्मक परिवर्तन हुए। समाज में कई तरह की विडंबनाएँ और विसंगतियाँ पैदा हुईं। भौतिक परिवर्तनों ने मनुष्य की संवेदना को ही बदल दिया। जब मनुष्य की संवेदना बदले तो कैसे संभव है कि साहित्य की संवेदना ना बदले? निश्चय ही उसमें भी परिवर्तन हुए। परिवर्तन के इस दौर में एक अवधारणा ओर थी जिसने साहित्य-क्षेत्र पर प्रभाव डालने के साथ आलोचना के परम्परागत 'टूल्स' को बदल दिया। वह थी उत्तर-आधुनिकता। इसके आगमन के साथ ही 'इतिहास का अंत', 'लेखक की मृत्य', 'विचारधारा का अंत',

'महावृतांत का अंत', 'महामानव का अंत' जैसी घोषणाएँ सुनाई देने लगीं। दरअसल उत्तर आधुनिकता बहुत हद तक एक नकारात्मक प्रवृत्ति है जो आधुनिकता का विकसित रूप होते हुए भी सत्तावादी अवधारणा है। यह हाशिये पर रह गए लोगों को अस्मिता के आधार पर संगठित कर उन्हें सत्ता में भागीदार बनाने का विभ्रम रचती है और 'जन प्रतिबद्धता' को समाप्त करने की एक सुनियोजित प्रक्रिया है। इसीलिए इसे सत्ता-संरक्षण भी मिला। इसने साहित्य-केंद्र में मौजूद प्रतिबद्ध साहित्य को हाशिये पर धकेल दिया और साहित्य-आलोचना की परंपरागत पद्धति, ढाँचे और सिद्धांतों को विखंडित करते हुए पाठ केन्द्रित आलोचना पर बल दिया। इसने भ्रम रचा कि सत्ता हाशिये की आस्मिताओं से संवाद कर रही है, जबकि वह इसकी आड़ में विभिन्न अस्मिताओं को आंदोलन और जनपक्षधरता के मार्ग से विमुख कर रही थी। दरअसल, इसने बड़ी चालाकी से साहित्यिक-विपक्ष को समाप्त कर दिया। इस अर्थ में यह लोकतन्त्र के 'विशिष्टवर्गीय सिद्धान्त' की ही पोषक है।

स्पष्ट है कि उत्तरशती में जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तन हुए। कहानी जैसी लोकप्रिय विधा भी उनसे मुक्त न रही। निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया, सूचना-तकनीकी क्रांति, प्रायोजित कार्यक्रमों, फिल्मों और विज्ञापन द्वारा रचे विभ्रमों, अस्मितावादी राजनीति, सत्तामूलक विमर्शों आदि का गहरा प्रभाव उत्तरशती की कहानी की संवेदना, शिल्प और भाषा-शैली पर पड़ा एवं उसमें कई रंग उभरे। कह सकते हैं कि उत्तरशती की कहानी बहुरंगी संवेदना की कहानी है। उसमें दलितों, आदिवासियों, महिलाओं आदि के दुख-दर्द-पीड़ाएँ-स्वप्न-आकांक्षाएँ शामिल होने के साथ निम्नवर्ग के शोषण, सांप्रदायिक-जातिवादी दंगों से पीड़ित जनता के आँसू, नई अर्थव्यवस्था के शिकार लोगों की तकलीफें और मानव विरोधी शक्तियों के विरुद्ध जनतान्त्रिक हस्तक्षेप की माँग निहित थी। वास्तव में 'समकालीन रचना परिदृश्य एक विशाल शरीर था और समकालीन लेखक इस विशाल शरीर के अंग-प्रत्यंग। इन अंग-प्रत्यंग की अलग-अलग भूमिकाएँ थीं।' सत्य यह है कि उत्तरशती की कहानी को एक लेख में समेटना असंभव है। मैंने प्रस्तुत लेख को उदय प्रकाश की कहानियों तक सीमित रखा है क्योंकि उदय प्रकाश उत्तरशती में हुए परिवर्तनों को न केवल सूक्ष्मता से पकड़ते हैं, अपितु इस दौर की प्रमुख बहसें भी उनकी कहानियों में उभरी हैं। वे अपनी कहानियों में सत्ता के विभ्रमों और उसकी आभासी दुनिया का शिकार होने की बजाय समाज की जमीनी हकीकत को उभारते हैं। 'इतिहास के अंत' या 'अंतवाद' की बातों में उनका विश्वास नहीं है।

उदय प्रकाश ने साहित्य-लेखन का प्रारंभ कविता लिखने से किया। वे कवि रूप में सफल भी रहे। परंतु बाद में वे कहानी लिखने लगे। उनकी कहानियों में काव्यात्मक लय तो है परंतु कहानी की शर्त पर नहीं। वे अपनी कहानियों में पारिवारिक संबंधों को विशेष महत्व देते हैं। उन्होंने अपने दादा-दादी, माता-पिता, भाई आदि को आधार बनाकर अनेक कहानियाँ रचीं। उनमें 'मूँगा, धागा और आम का बौर', 'दरियाई घोड़ा', 'छप्पन तौले का करधन', 'तिरिछ', 'नेलकटर', 'अपराध' आदि प्रसिद्ध कहानियाँ हैं। उत्तरशती में समाज में पैठती संबंधहीनता की स्थिति में संबंधों पर संजीदा कहानियाँ लिखना महत्वपूर्ण उपलब्धि ही कही जाएगी। इससे उनकी संबंधों के प्रति

रागात्मकता व्यक्त होती है। उनकी इन कहानियों में स्मृति का रचनात्मक प्रयोग हुआ है। ऐसे समय जब समाज में 'स्मृतिलोप' या 'स्मृतिहीनता' बीमारी की हद तक बढ़ जाए और लोग इतना सीमित या व्यस्त हो जाएँ कि 'उनकी स्मृति उस कैसेट की तरह हो जाए, जिसमें हर रोज नई छवियाँ और नई आवाजें टेप की जाती हों और रात में उन्हें पोछ दिया जाता हो। सुबह वे सबके सब स्मृतिहीन होकर उठें', तब ऐसी स्थिति में किसी कहानीकार द्वारा स्मृति का रचनात्मक प्रयोग बड़ी उपलब्धि ही कही जाएगी। ऐसा करके वे संबंधों में आए बदलावों, उनमें बढ़ती औपचारिकताओं और बढ़ती लालची प्रवृत्ति को कुशलता से उभारने में सफल हुए हैं। इससे 'तत्कालीन वर्तमान' का मूल्यांकन भी संभव हुआ।

उदय प्रकाश की 'छप्पन तौले का करधन' कहानी इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि वह हमारे समाज में पैसे की बढ़ती भूमिका, बढ़ती लालची प्रवृत्ति, मूल्यों-संस्कारों के पतन, वृद्धों की अमानवीय स्थिति, उनके शोषण और बढ़ती संबंधहीनता को अत्यंत करुणाजनक ढंग से उठाती है। कहानी में माँ और चाची अस्सी वर्षीय वृद्ध दादी को 'अँधियारी कोठरी' में कई-कई दिनों तक भूखा रखती हैं। उनको लगता है कि उनकी क्रूरता और शोषण से तंग आकर दादी 'छप्पन तौले के करधन' का राज बता देंगी। उनके लिए रिश्ते, मानवीयता और नैतिकता तुच्छ चीजें थीं। हद तो यह थी कि एक दिन दादी के बेटे ने ही करधान के विषय में पूछा! तब दादी ने अपनी विवशता को इन शब्दों में प्रकट किया- हअभी तो बेटा, बहू दाल-भात द्यौढ़ी पर रख जाती है, करधन मैंने दे दिया तो फिर कौन-सी आस रह जाएगी? करधन हो कि न हो, वह मेरे लिए और तुम सबकी आस के लिए जरूरी है बेटा। दादी का यह कथन उनके अनुभव और आशंका को प्रकट करता है। दरअसल, दादी अपने भविष्य और परिवार में आशा बचाए रखने के लिए राज को राज रहने देती हैं। परंतु परिवार भी कहाँ हिम्मत हारने वाला था! एक दिन त्योहार के मौके पर पूरा परिवार करधन का रहस्य जानने के लिए चाल चलता है। होता यह है कि 'तीजे के दिन दादी को खाट सहित आँगन में डाल दिया गया। बुआ ने सरसों के तेल की मालिश की। दादी के बालों में कंघी करके जूड़ा बाँधा गया। अम्मा उन्हें हलवा, खीर, आलू-गोभी की सब्जी और पूरी बना-बनाकर खिलाती रहीं। उन्हें पंखा झला गया। बुआ, चाची और अम्माँ बातों के दाँव-पेंच लगाकर दादी से भेद पाने के लिए जूझती रहीं। उधर इसी बीच अँधियारी कोठरी के फर्श को पिताजी सब्बल से जगह-जगह खोदते रहे, लेकिन करधन नहीं मिला।' परिवार के प्रयास इसके बाद भी जारी रहे। एक बार दादी बीमार हो गईं तो चाची ने उन्हें बहुत डराया-धमकाया। वह दादी को छुरा चमकाती रहीं, दादी का गला दबाया और नाक और मुँह बन्द करके उनकी साँस भी देर तक रोकी। साँस रुकने से दादी का शरीर गुब्बारे की तरह फूल गया, लेकिन उन्होंने तब भी नहीं बताया कि करधन कहाँ है। एक बार एक महीने तक दादी को अन्न का दाना भी नहीं दिया गया।... हद तो तब हो गई जब एक बार दादी को दस्त लग गए और पूरे आँगन और अँधियारी कोठरी में पानी, दस्त, पेशाब का कीचड़ फैलने के साथ बदबू बढ़ गई। मगर ऐसी दयनीय हालत में भी चाची दादी का इलाज करने के स्थान पर उनके कान में चिल्ला रही थी कि अब तो बता दो। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उत्तरशती से पहले कभी पैसे के लिए बुजुर्गों को ऐसी कठोर यातनाएँ देने की हमारे समाज में परम्परा थी? क्या वृद्धों के लिए हमारे समाज में ऐसा ही दृष्टिकोण था? कहना गलत न होगा कि पैसे की यह भूख भी गत शताब्दी के

अंतिम दशक में ज्यादा भड़की। उपर्युक्त उद्धरणों से मालूम होता है कि कैसे पैसे की बढ़ती भूख ने आदमी को स्वार्थी, वहशी और दरिंदा बना दिया है।

आप सोच रहे होंगे कि कैसा नीच परिवार है जो पैसे के लिए इतना नीचे गिर गया? मगर ठहरिए जनाब सिक्के का दूसरा पहलू भी है जो कहानी के अंत में उभरता है। माँ, चाची और परिवार को दादी के मरने का दुख भी होता है। दरअसल, उनकी आर्थिक बदहाली और टूटे-फूटे छप्पर को बचाने की विवशता उन्हें दादी का शोषण करने के लिए मजबूर करती है। दादी के मरने के बाद जब घर खोदा जाता है तो सभी सोचते हैं- अब हमारा घर धूल में नहीं बदलेगा। सारी छप्पर बदल दी जाएगी। दीवारों के खोखल में सीमेंट-गारा भर दिया जाएगा। चारों खेत वापस लौट आयेंगे। पिताजी मारवाड़ी सेठ की मुनीमी छोड़ देंगे और घर में रहेंगे। पिछवाड़े की जमीन फिर हमारी हो जाएगी, चाचा गोहाटी से लौट आएँगे और असमिया कुंजड़िन हमारे घर का पानी बरतन करेगी, खेतों में काम करेगी, मैं स्कूल जाने लगूँगा, अम्माँ की बीमारी ठीक हो जाएगी, हवा में से केवड़े की महक आएगी और हमारे घर में कई लालटेनें होंगी, टार्च भी होगी... आदि-आदि। ये तथ्य पारिवारिक संबंधों के तापमान के घटने की असल वजहें सामने लाते हैं। मालूम होता है कि दोष सिर्फ माँ, चाची या परिवार का नहीं, सम्पूर्ण व्यवस्था का है। व्यवस्था ने साधारण जन को ध्यान में रखकर न तो नीतियाँ बनाई, न ही देश में भौतिक संसाधनों का उचित वितरण किया! उसने न तो समाज से शोषण और उसके स्रोतों को समाप्त किया और न ही न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की। उसकी नवउदारवादी नीतियाँ का लाभ भी सीमित वर्ग तक ही पहुँचा। कहानी में 'दादा' के माध्यम से औपनिवेशिक दौर के यथार्थ की क्रूरता भी उभरी है। ऐसा करके कहानीकार उत्तर औपनिवेशिक दमन और शोषण की तुलना औपनिवेशिक दौर से करता है, ताकि हम समझ सकें कि कौन ज्यादा क्रूर और दमनकारी है।

उदय प्रकाश मानवीय संवेदना के कुशल चित्रकार हैं। वे 'उत्तर-समाज' में बढ़ती संवादहीनता, असंवेदनशीलता और हिंसक प्रवृत्ति को 'तिरिछ' जैसी मार्मिक कहानी के माध्यम से उभारते हैं। कहानी शहरी लोगों द्वारा ग्रामीणों से की जाने वाली अभद्रता और उत्पीड़न को संजीदगी से उभारती है। यह बताती है कि उत्तरशती के अंतिम चरण में तेजी से निर्मित तथाकथित उत्तरआधुनिक शहर आधुनिक शहर के बरक्स ज्यादा निर्मम, कठोर और घातक हैं। कहानी में 'भारत' और 'इण्डिया' की निर्मिति के प्रश्न भी गंभीरता से उठे हैं। गाँव का सुशिक्षित अध्यापक भी शहर में जाते डरता है। लेखक ने उसके डर के कारणों की तफतीश भी की है। उसके डरने की वजहें भी वाजिब हैं। वह अपनी बात शहरी लोगों तक नहीं पहुँचा पाता। कहानीकार पुलिस-प्रशासन की कार्य-शैली पर भी प्रश्नचिन्ह लगाता है। शहरी लोग यहाँ तक कि पुलिस भी 'सुशिक्षित अध्यापक' को चोर-उचक्का समझती है। वहाँ केवल अच्छे ब्रांडेड कपड़े, लच्छेदार कुलीन भाषा और प्रदर्शन-वृत्ति करने वाले लोगों को ही महत्व मिलता है। पिताजी इसीलिए दर-दर की ठोकरें खाकर मरने को विवश थे क्योंकि वे इन सबमें निपुण और संपन्न न थे। शहरी समाज की अमानवीयता और पुलिस की कर्तव्य-विमुखता इसी कहानी में नहीं, बल्कि उदय प्रकाश की अन्य कहानियों में भी प्रकट हुई है।

उदय प्रकाश ने अपनी कहानियों में सामाजिक संबंधों को विशेष महत्व दिया है। उनकी पुस्तकों का समर्पण उनकी संबंधशीलता को दर्शाता है। 'तिरिछ' कहानी-संग्रह के अंत में उन्होंने अपनी कहानियों की पाठक पूनम वर्मा के तीन पत्रें को शामिल किया है और उन्हें यह संग्रह भी समर्पित किया है। इससे मालूम होता है कि कहानी ही नहीं निजी जीवन में भी उन्होंने संबंधों को खासा महत्व दिया। 'मौसाजी' कहानी संबंधों के विस्तार की दिलचस्प कहानी है। दिलचस्प इस अर्थ में कि मौसाजी ऐसे पात्र हैं जिन्होंने अपने चारों ओर भ्रम का जाल बुन लिया है या कहें फैंटेसी रच ली है। वे उसी में खोए रहते हैं और हकीकत से आँखें नहीं मिलाना चाहते। उनकी आर्थिक और पारिवारिक स्थिति खस्ता है फिर भी लोग उनका सम्मान करते हैं। सम्मान का कारण स्वतंत्रता सेनानी होना नहीं, उनका बुढ़ापा है। समाज बुढ़ापे की शर्म तो करता है, परंतु पुलिस ऐसा भी नहीं करती। एक बार उनके लड़के को पुलिस चोरी के जुर्म में उठा ले जाती है। वे थाने जाते हैं तो पुलिस उनसे अभद्र व्यवहार करती है। वे अपने को स्वतंत्रता सेनानी बताते हैं तो थानेदार का जवाब देखिए- 'अबे मैं तेरी केस हिस्ट्री नहीं पूछ रहा हूँ। कोई जमीन-वमीन का इन्तखाब है? जमानत भरनी पड़ेगी। आपके सपूत चोरी के जुर्म में पकड़े गये हैं। चले आते हैं ऊटपटाँग बकने। साला, हर कोई नेतागिरी झाड़ता रहता है।' और यह प्रोक्ति भी देखिए- 'यहाँ ज्यादा पगलैटी मत दिखाओ, नहीं तो ससुर, तुमको भी उठाकर अन्दर कर देंगे। कल सवेरे ग्यारह बजे जमानती कागजात और कोई माल-उसूख वाला जमानतदार लेकर आना, नहीं तो तुम्हारा लड़का छह महीने के लिए फुरहरी हवा खाने अन्दर चला जाएगा। दूसरी बात भी सुन लो बुढ़ऊ कि अगर ज्यादा ऊटपटाँग बकर-बकर किया तो तुम्हारी भी चूतड़ में चार-पाँच डंडे जमा देंगे, फिर सूधे हो जाओगे।' यह है हमारी उदारवादी पुलिस व्यवस्था का सच! क्या इससे प्रशासन और आमजन के मध्य की दूरी प्रकट नहीं होती? क्या जमानती कागजात और कोई माल-उसूख वाला जमानतदार साथ लाने से व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार का संकेत निहित नहीं है?

वैसे तो स्वतंत्रता पूर्व से ही भारतीय राजनीति में जातिवाद का दीमक लगा था परन्तु उत्तरशती के दौरान उसके दुष्प्रभाव खुले तौर पर दिखाई देने लगे। कालांतर में समाज भी उसकी गिरफ्त में आ गया। उदय प्रकाश ने इन अंतर्विरोधों का सफल और सूक्ष्म चित्रण 'पीली छतरी वाली लड़की', 'मोहनदास' और 'दद्दू तिवारी:गणनाधिकारी' जैसी कहानियों में किया है। 'दद्दू तिवारी:गणनाधिकारी' कहानी बुंदेलखण्ड की पृष्ठभूमि में रची गई है। इसके नायक दद्दू तिवारी बचपन में गाँव के निम्न जाति के बच्चों के साथ खेलते-कूदते और मछली पकड़ते घूमते थे। तब तक उनमें 'ब्रह्मणत्व' पैदा नहीं हुआ था। जब वे युवा हुए तो केन नदी पर पुल बना था। पुल के उद्घाटन के मौके पर मुख्यमंत्री ने ठेकेदार को बधाई देते हुए कहा, 'अब इस इलाके में सांप्रदायिक तनाव दूर होगा, पिछड़े वर्गों और जातियों के लोगों को विकास करने का पूरा मौका मिलेगा। अब हरिजनों और आदिवासियों के बच्चे बड़ी आसानी से पुल पार करके बनारस, कलकत्ता, इलाहाबाद आदि बड़े शहरों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे। इस पुल के कारण एक क्षेत्र की आर्थिक असमानता दूर होगी।' इसी अवसर पर ठेकेदार त्रिलोकी नाथ अरोड़ा ने क्षेत्र में व्याप्त बेरोजगारी की समस्या और उसको दूर करने के उपाय के प्रस्तुत करते हुए कहा 'बेरोजगारी को दूर करने के लिए वे इस केन किनारे के पुल के पास एक शिव मंदिर का निर्माण पंद्रह दिन के भीतर कर देंगे। इसमें

एक पुजारी और एक फर्राश की नियुक्ति सरकारी तनख्वाह पर होगी। दोनों नौकरियाँ स्थायी होंगी।' इसके बाद पाठशाला के प्रधानाध्यापक श्री नत्थूलाल शर्मा ने मुख्यमंत्री और ठेकेदार की उदारता और जनकल्याण की भावना की ओर लोगों का ध्यानाकर्षित किया और बताया, पाठशाला की दो सीढ़ियों की मरम्मत ठेकेदार ने दान देकर कराई है। इन तीनों व्यक्तियों के भाषण से देश की स्थिति स्पष्ट होती है और यह भी मालूम होता है कि पूँजी और आस्था परस्पर एक दूसरे के पूरक कैसे हो गए! मंदिरों के स्थायी पदों पर दद्दू तिवारी की नियुक्ति के लिए उनके पिता प्रयास करते हैं। उनके प्रयास रंग लाए और वे पुजारी बन गए। अब बेटे को सेट करना था। चूँकि केन नदी पर बना पुल दो जिलों को विभाजित करता था इसलिए उसपर एक चुंगीनाका बनाना तय हुआ। दद्दू तिवारी के पिता जोड़तोड़ करके अंततः उनकी नियुक्त करा ही लेते हैं। अब दद्दू तिवारी को देखिए वे चुंगीनाके पर धीरे-धीरे अपना ऑफिस विकसित कर लेते हैं। उनके जीवन में सुख-समृद्धि आ जाती है तो उन्हें गाँव के लोग असभ्य, बदतमीज, लफंगे और बेकार लगने लगते हैं। उनका ब्राह्मणत्व जाग जाता है। स्पष्ट है आर्थिक सुदृढ़ता जातिवादी मानसिकता की जनक है। इस तथ्य का पता इस बात से भी चलता है कि कहानी के अंत में लेखक दिखाता है कि समाज में आर्थिक बदलाव के कारण नीची जातियाँ भी सशक्त हुई हैं। पिछड़ी जाति का 'पटवारी' चुंगीनाका न खोलने पर दद्दू तिवारी की पिटाई कर देता है। और दद्दू तिवारी अन्य बातों के साथ नोटशीट में यह भी लिखते हैं कि 'एक कोरी ने कानून का पालन करने वाले एक ईमानदार सरकारी ब्राह्मण को जूते से मारा है'। हालाँकि उनका यह जातिवादी दाव काम नहीं आता। उनकी अपनी नौकरी पर ही बन आती है क्योंकि वरिष्ठ अधिकारी और पिछड़ी जाति के ठेकेदार ने भ्रष्टाचार के माध्यम से पैसा कमाने के लिए पहले से ही 'गुट' बना रखा था। स्पष्ट है जातिवाद के बंधन कुछ स्थिति-विशेष में ढीले हो चुके हैं, सभी स्थितयों में नहीं।

उदय प्रकाश की कहानियों का निरीक्षण करते हुए मैंने पाया कि उनके ज्यादातर पात्र 'कैंसर' जैसी असाध्य बीमारी से जूझते-मरते हैं। उन्होंने अपनी गद्य-रचना 'ईश्वर की आँख' के प्रथम आत्मकथात्मक लेख में अपने सगे-संबंधियों और करीबी सृजनकर्मियों को कैंसर से जूझते और मरते देखने का उल्लेख किया। फिर भी मैं सोचता रहा कि क्या इतने भर के लिए उन्होंने ऐसे पात्र अपनी कहानियों में रखे? कुछ सोचने, पढ़ने और लेखकीय प्रतिबद्धता जानने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कहानीकार ऐसा करके सत्ता द्वारा रचे जा रहे विभ्रम का प्रतिलोम रच रहा था। ध्यातव्य है कि हमारे देश में प्रतिवर्ष जितने व्यक्ति कैंसर और टीबी जैसी बीमारी से मरते हैं उसके दस फीसदी भी 'एड्स' से नहीं मरते। फिर भी हमारी सरकार और उसके प्रचार-तंत्र अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के दिशा-निर्देश पर 'एड्स' के विज्ञापनों को अत्यधिक प्रचारित-प्रसारित करते रहे, खासकर उत्तरशती के अंतिम चरण में। इसके पीछे 'हेल्थ इकोनोमी' की अंतर्राष्ट्रीय लॉबी कार्य कर रही थी। एड्स के विज्ञापनों के बाद भारत में 'सिरिन्जों' का प्रयोग बेतहाशा बढ़ गया। पहले उन्हें 'रिसाइकल' करके बार-बार प्रयोग करने का चलन था। अब रक्तदान करने, रक्त लेने-देने, रक्त की जाँच आदि में सिरिन्ज का अत्यधिक प्रयोग होने लगा। मुर्गे-मुर्गियों और अन्य जंतुओं में फ्लू के रोग होने व उनके बचाव के लिए टीका लगाने, टीका अभियान आदि इसकी अगली कड़ी थी। यह अरबों डॉलर का व्यवसाय था जिस पर अमेरिकी कंपनियों का एकाधिकार था। इसके अतिरिक्त

'एड्स' के अत्यधिक प्रचार से ही 'कंडोम' जैसा सेक्स साधन और 'वियाग्रा' जैसी सेक्सवर्धक दवाइयों के प्रयोग में बेतहाशा वृद्धि हुई। कहना न होगा कि यह व्यवसाय भी अरबों डॉलर का था। उदय प्रकाश उपर्युक्त तथ्यों की ओर संकेत करते हुए 'हेल्थ इकोनोमी' के उदारवादी नकाब को हटाकर उसके वास्तविक चेहरे से साक्षात्कार कराते हैं। दरअसल, 'युनेस्को' जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा विकासशील देशों को दी जाने वाली जनकल्याण राशि के मूल में नया विश्व बाजार निर्मित करने की सुनियोजित योजना थी। इसीलिए उदय प्रकाश ने अपने वैयक्तिक अनुभवों का अपनी कहानियों में रचनात्मक प्रयोग कर नव, वृद्ध या कहें परिपक्व पूंजीवाद का प्रतिलोम रचा। परंतु आलोचकों ने परम्परागत चश्मे का प्रयोग कर इन कहानियों को 'वैयक्तिक अनुभव की कहानियाँ' कहा। उदय प्रकाश ने लिखा भी- 'क्या आपको नहीं लगता कि ऐसे समय में अपने नितांत एकांतिक और निपट अकेले अनुभव को व्यक्त करना इस पूंजीवादी समूहवाद का सार्थक प्रतिकार है?' और 'सभ्यता के केंद्र में अब व्यवस्था, पूंजी और सत्ता है। और अब राजनीति, अर्थजगत् और समाज के अन्य क्षेत्रों में ही नहीं, संस्कृति में जो विमर्श होगा उसके केंद्र में मनुष्य नहीं, सत्ता होगी।'

उदय प्रकाश जनवादी कहानीकार हैं। वे अपनी कई कहानियों में सामाजिक यथार्थ को नए ढ़ंग से प्रकट करते हैं। 'हिन्दुस्तानी इवान दानिसोविच की जिंदगी का एक दिन' ऐसी ही कहानी है। इसमें समाज का तिक्त यथार्थ अपने सहज रूप में अभिव्यक्त हुआ है। यह मार्मिक और करुणाजनक कहानी है जो उत्तरशती की विडम्बना-विसंगति को उद्घटित करती है। उत्तरशती के अंतिम दशक में उदारीकरण, निजीकरण और वैश्विक अर्थव्यवस्था को अपनाते समय हमारे सत्ता वर्ग ने आम जनता को उसकी बेरोजगारी, बदहाली और गरीबी दूर करने के आकर्षक और रंगीन सपने दिखाए थे। शहरों में बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल, मल्टीप्लेक्स, मेट्रो, कॉल सेंटर, एयरपोर्ट आदि-आदि विकसित किए गए। परंतु आम आदमी की क्रय शक्ति न बढ़ने से यह विकास छलवा ही साबित हुआ। यह कहानी सत्ताधारी वर्ग के नारों और नीतियों के खोखलेपन को उजागर करती है और विकास की कुरूपता को उजागर करती है। कहानी का नायक इवान दानिसोविच बीमार है और उसके बच्चे कुपोषित। वह रोज सुबह जल्दी उठकर अपने बच्चों के लिए नाश्ता तैयार करता है, एक बच्चे को स्कूल छोड़ने जाता है। इसके बाद ही वह अपने काम पर जाता है। उसकी पत्नी भी बहुत कम वेतन पर नौकरी करती है। उनके वेतन का अधिकांश मकान के 'भाड़े' के रूप में शहरी 'परजीवी वर्ग' के पास चला जाता है, कुछ बसों के किराये में खर्च हो जाता है और कुछ बच्चों के इलाज में। इसके बाद जो पैसा बचता है वह उनके जीवन-यापन हेतु नाकाफी है। उनका दाम्पत्य जीवन बर्बाद हो चुका है। उसके बच्चे ललचाई नजरों से खाद्य पदार्थों को देखकर ही संतोष पाते हैं। उन्हें खरीदने की क्रय-शक्ति उनके पास नहीं। विडम्बना यह कि उनका परिवार सरकार द्वारा निर्धारित गरीबी-रेखा के नीचे भी नहीं आता। यहाँ लेखक गरीबी रेखा के सरकारी सीमांकन को प्रश्नांकित करता है। इवान की विवशता उसे अपनी किडनी बेचने पर मजबूर कर देती है। विवशता में छिपी विडम्बना यह कि उसे किडनी बेचने का सर्टिफिकेट और पैसे लेने के लिए भी भ्रष्ट सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत देनी पड़ती है। यह क्रूर यथार्थ किसी की भी आंखे

नम करने के लिए काफी है, परन्तु व्यवस्था के पुर्जों की नहीं। सत्ता का प्रचारतंत्र कितने भी विभ्रम और खुशनुमा तस्वीरें गढ़े परंतु लोकतन्त्र के पांचवे स्तम्भ का प्रतिबद्ध सिपाही उदय प्रकाश उसके छदम को बेनकाब कर ही देता है और मानवता के पक्ष में आवाज मुखर करता है। रक्तचूसक तथाकथित उदार शहरी वर्ग अपने लालच में इतना मुब्तिला हो गया है कि इस अमानवीयता की ओर देखना ही नहीं चाहता। प्रश्न यह है कि मानवाधिकार संगठन इन लोगों के लिए आवाज क्यों नहीं उठाते? ऐसा क्यों है कि विभिन्न गैरसरकारी संगठन जंगली जानवर की लुप्त होती प्रजातियों के लिए तो आंदोलन और संघर्ष करते हैं, परंतु मनुष्य की अमानवीय स्थिति के विषय में एक शब्द भी नहीं बोलते? शहरी लोग पालतू जानवर तो बड़े शोक से पालते हैं परन्तु इंसानियत के लिए कुछ करना नहीं चाहते! मैं यह नहीं कहता कि उक्त कार्य नहीं होने चाहिए, परन्तु इतना तो सभ्य समाज को करना ही चाहिए कि किसी भी मनुष्य को अमानवीय जीवन न जीना पड़े। दरअसल लेखक हमारी व्यवस्था की तथाकथित उदारता की पोल खोलते हुए निम्नवर्ग के प्रति अपनी संवेदना को प्रकट करता है। कहानी समाज की असंवेदनशीलता, रैलियों के कारण आमजन की परेशानियों और सार्वजनिक परिवहन प्रणाली की अनियमितता को निम्नवर्ग के चश्मे से देखती है।

'पॉल गोमरा का स्कूटर' एक व्यंग्यधर्मी बहुआयामी कहानी है। इसमें उत्तरशती के अंतिम दौर में भारत में विभिन्न क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों को लेखक ने सूक्ष्मता से पकड़ा है। पॉल गोमरा हिन्दी कवि होने के साथ एक पत्रकार भी है। वह तेजी से बदलते समाज के साथ चलता दिखने के लिए न केवल स्कूटर खरीदने का निर्णय लेता है बल्कि अपना नाम भी बदलने का निर्णय लेता है। उसे लगता है कि उसका नाम 'पिछड़ा, दकियानूसी और निचले दर्जे' का है। 'उसने विखंडनवादी पाठ पद्धति अपनाते हुए सिर्फ यह किया कि अपने नाम राम गोपाल के 'पाल' को तोड़कर अलग निकाला और उसे हल्का सा डिस्टोर्ट करते हुए 'पॉल' बना दिया। इसके बाद बाकी बचे 'रामगो' को उल्टी तरफ से पढ़ दिया-'गोमरा'। इस तरह उनका जो नया नाम निर्मित हुआ, वह था-'पॉल गोमरा'।' इस विवरण को देने के लेखक के अनेक निहितार्थ हैं। वह यहाँ उत्तर आधुनिकता की माल पुराना पेकेजिंग नई की ओर संकेत करता है। पॉल गोमरा के बारे में लेखक ने लिखा- 'इतिहास का उन्हें अपार ज्ञान था। लेकिन वर्तमान उनकी समझ में नहीं आता था। बहुत प्रयत्नपूर्वक एकाग्रचित होकर वे कभी-कभार वर्तमान को समझने का प्रयत्न करते, तब तक वह बदल जाता था।' उनके देखते-देखते पूरी दुनिया बदल गई थी। यह नई आभासी दुनिया की और लेखक का संकेत था। 'बाजार अब सभी चीजों का विकल्प बन चुका था। शहर, गाँव, कस्बे बड़ी तेजी से बाजार में बदल रहे थे। हर घर दुकान में तब्दील हो रहा था।' वह देखता है कि यह युग 'औरत बिकाऊ' और 'ब्राण्ड' का युग है। इसमें पूंजीपति स्त्री के शरीर का इस्तेमाल अपने ब्राण्ड को बाजारी प्रतिस्पर्धा से मुकाबला करने के लिए करता है। वह समझ चुका है कि कैसे एक सफाई कर्मचारी की सत्रह साल की बेटी 'सुनीला' रातोंरात मालामाल हो गई। दरअसल 'किसी टीवी के विज्ञापन में वह (स्त्री) आठ फुट बाइ चार फुट साइज के विशाल ब्लेड के मॉडल पर नंगी सो गई थी।' इस युग में कला भी नग्नता प्रसारित करने का माध्यम बन गई। उसे सामाजिक सरोकारों में दिलचस्पी नहीं रही। तभी 'देश के एक सबसे बड़े चित्रकार ने एक अँग्रेजी अखबार में वक्तव्य

दिया कि वे आने वाले दो वर्षों तक लगातार सुनीला की न्यूड्स ही बनाएँगे'। इसी समय एक अन्य विज्ञापन में एक स्त्री ने 'एक बलिष्ठ काले रंग के अरबी घोड़े की खुरदरी पीठ पर बैठकर, अपने पारभासक जाँघिए के भीतर से 'द ब्लैक हॉर्स' नामक बियर की बोतल निकालकर छातियों में उड़ेल ली थी और घोड़े की पीठ पर बैठी-बैठी वह खुद बियर की झाग में बदल गई थी'। इन विज्ञापनों का उल्लेख करके लेखक ने इस दौर के अंतर्विरोधों को सूक्ष्मता से पकड़ा है। यह अंतर्विरोध नहीं तो क्या है कि स्त्री स्वतन्त्रता के नाम पर स्त्री को 'उपभोग्य वस्तु' में तब्दील कर दिया जाए? लेखक बताता है कि कैसे भोगवादी प्रवृत्ति हमारे समाज की सामूहिक चेतना का हिस्सा बन गई? लेखक यह भी लिखता है कि 'सुनीला को पिछले आठ महीने में तीन बार 'टर्मिनेशन' कराना पड़ा और दो हफ्ते पहले एक खबर के मुताबिक उसे एचआईवी पॉजिटिव पाया गया था।' यह स्थिति सिर्फ सुनीला की ही नहीं बल्कि विज्ञापन के पेशे में आई कई अन्य स्त्रियों की भी है। यहाँ लेखक उस 'तंदूर कांड' का भी उल्लेख करता है जिसमें एक स्त्री को जिंदा भून डाला गया था। लेखकीय अभिप्राय यह है कि नई व्यवस्था उदारवादी नहीं, 'नव-औपनिवेशिक, भूमंडलीकृत उपभोक्तावादी, बाजारू साम्राज्यवादी व्यवस्था है और उपर्युक्त उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि इसमें स्त्री का वजूद उसके सौन्दर्यपूर्ण-सुगठित-गोरे शरीर के कारण है न कि उसके गुणों से। लेखक की चिंताएं जायज हैं। वह समाज पर हुए मनोवैज्ञानिक प्रभावों को लेकर भी चिंतित है। लेखक की चिंताओं को समझने के लिए निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

'पॉल गोमरा की आँख जो देख रही थी और दिमाग जो सोच रहा था, उसके बीच संगति और तर्क गड़बड़ा गए थे। सन्यासी वातानुकूलित गाड़ियों में तीर्थयात्रा कर रहे थे और एन.आर.आई. पूँजी तथा पेट्रो डॉलर्स से कारसेवा करा रहे थे। अंतर्राष्ट्रीय शस्त्र बाजार में तांत्रिक विभिन्न राष्ट्रों के बीच मिसाइलों, पनडुब्बियों और लड़ाकू विमानों की खरीद-फरोख्त में दलाली कर रहे थे। पच्चीस साल से गले तक गड्ढ़े में धँसे एक योगी ने कई देशों के कई शहरों में पाँच तारा होटल खोल रखे थे और पचास साल से पेड़ की मचान पर टंगे एक बाबा के पैर के अँगूठे की छाप अपने माथे पर लगवाने के लिए विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र का समूचा कैबिनेट कतार बनाकर कीचड़ में खड़ा था। प्रधानमंत्री इतिहास के सबसे बड़े ठग को सार्वजनिक रूप से लगातार चूमे जा रहा था। पाँच साल पहले एक गाँव में सोते हुए सड़सठ लोगों को गोलियों से भून डालने वाले डाकू की जीवनी पर बनी फिल्म सुपर हिट हो गई थी और उसे ऑस्कर अवार्ड मिलने वाला था। महात्मा गाँधी को अश्लील गलियाँ देकर राष्ट्र का सम्मानित समलैंगिक मीडिया स्टार बन चुका था।

भूतल राज्य परिवहन की हजारों खूनी रंग की बसों में नादिरशाह का जिन्न सवार हो गया था, और हर रोज पचासों बच्चों, औरतों और साधारण लोगों को अपने टायरों के नीचे कुचल रहा था।

उदय प्रकाश ने अपनी कहानियों के माध्यम से जादुई ढंग से भी यथार्थ को उद्घटित किया है। उनकी 'पुतला', 'टेपचु', 'वारेन हेस्टिंग्स का साँड', 'हीरालाल का भूत' और 'पॉल गोमरा का स्कूटर' आदि कहानियों में जादुई ढंग से यथार्थ प्रस्तुत हुआ है। इन कहानियों में

लोकजीवन की अनुभूतियाँ, किस्सागोई शैली और लोकप्रचलित विश्वास भी शामिल हैं। इससे इन कहानियों में अद्‌भुत रोचकता पैदा होने के साथ अन्याय के प्रतिकार का नया ढंग भी विकसित होता दिखाई देता है। कथा-चरित्र अपने-अपने ढंग से सामंती-पूंजीवादी व्यवस्था का प्रतीकात्मक विरोध करते हैं। 'पुतला' कहानी का 'किशनू' जो दलित जाति से है रामलीला उत्सव के लिए बनाए गए पुतलों को 'चौधरी भिखमदास' वगैरह का रूप देकर गाँव के शोषकों से अपने और अपने परिवार के शोषण का प्रतिशोध लेता है। दरअसल चौधरी भिखमदास राजनीतिक रसूख बढाने के उद्देश्य से रामलीला के लिए पुतले बनवाने के लिए किशनू पर अज्ञात कर्ज और सूद चुकाने का दबाव बनता है। 'हीरालाल का भूत' जैसी करुणाजनक कहानी का हीरालाल भी अपने ढंग से जमींदार और उसके सहयोगियों से प्रतिशोध लेता है। हीरालाल एक बँधुआ मजदूर है। वह जमींदार के यहाँ जीतोड़ मेहनत करने के साथ उसकी डयोढ़ीदारी भी करता है। परन्तु फिर भी उसकी स्थिति अमानवीय है। जमींदार उसकी आर्थिक मदद करने के स्थान पर अपने ब्राह्मण मुंशी के साथ मिलकर उसकी पत्नी का शारीरिक शोषण करता है। वे बदले में उसे पाँच-पाँच रूपये देते हैं। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में स्त्री अस्मिता का कोई महत्व नहीं है। इस घटना के बाद हीरालाल का किरदार बीभत्सता और करुणा की प्रतिमूर्ति में रूपांतरित हो जाता है। लेखक के सामने प्रश्न रहा होगा कि विवश हीरालाल कैसे अपना प्रतिशोध ले? इसका हल वह लोकजीवन से तलाशता है। हालाँकि इसे 'रोमानी' समाधान ही कहा जाएगा। गाँववाले यही सोचते हैं कि हीरालाल ही भूत बनकर जमीदार और पुरोहित से प्रतिशोध ले रहा है और वे संगठित होकर संघर्ष करने की दिशा में सोचते ही नहीं हैं!

कहा जा सकता है कि तथाकथित उत्तर आधुनिक समाज में 'चारों ओर खून, भ्रम, अपराध, दंगे, दौलत, लालच और लाशें फेल रही थीं।' समाज से मूल्य, विचारधारा, नैतिकता, आदर्श तिरोहित हो चुके थे और अवसरवादी, चोर, डाकू, अस्तित्वहीन-अंधविश्वासी लोग प्रतिष्ठित हो रहे थे। कानून के शासन के स्थान पर अराजकता समाज का स्थायी अंग बन गई थी। यही सब मिलकर 'उत्तर आधुनिक यथार्थ' की भी निर्मिति करते हैं। यह यथार्थ जितना तिक्त है उतना ही जटिल भी। इसकी अनेक परतें हैं ठीक उदय प्रकाश की कहानियों की तरह। डॉ. कुमार कृष्ण का यह कथन सही प्रतीत होता है कि 'उदय प्रकाश की कहानियाँ अमरूद की तरह अनगिनत बीज वाली कहानियाँ हैं। इन कहानियों में उनकी कविताएँ भी अंतर्निहित हैं, जो रात में हारमोनियम की तरह बजती हैं और मनुष्य के भीतर की रिक्तता को भरती हैं।' इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि उत्तरशती का सच और उदय प्रकाश की ये कहानियाँ संवेदनशील पाठकों में तनाव और बैचेनी को भी जन्म देती हैं।

डॉ. शहाबुद्दीन, सहायक व्याख्याता, हिन्दी विभाग, डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम शासकीय महाविद्यालय संघप्रदेश दादरा एवं नगर हवेली, सिलवासा–396230, E.mail : sagarashi@rediffmail-com

✧ ✧ ✧

दास कबीर जतन से ओढ़ी

अनिल कुमार सिंह

जबकि भाग आदमी की मजबूरी में है कि वह सारे दुनिभावी कवागद महज एक घर बनाने और बसाने के लिए ही करता है और कबीर उसी घर को एक टूटाके में जलाने का आह्वान कर रहे हैं तो क्या कबीर का दिमाग फिर गया था या वो पागल हो गये थे? ऐसे सवाल भी उठाये गये होगें कबीर की इस हरकत को देखकर। परन्तु जब इस आह्वान के पीछे छुपे कबीर की मन:स्थिति को हम परखते है तो पाते है कि ना तो उनका दिमाग फिरा था और ना ही वे पागल हुये थे।

आज के डिजिटल युग में 'मसि कागद छुओ नहीं, कलम गहो नहीं हाथ, वाले कबीर दास को याद करना, पल भर तो किसी को भी चौका सकता है। आज तकनीक से जुड़े और जाने बिना किसी भी मनुष्य का अस्तित्व संकट में पड़ सकता है या उसका अस्तित्व समाप्त भी हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं होगा क्योंकि आज जन्म से लेकर मृत्यु तक सब डीजिटलाईजेशन की जाल में उलझ कर रह गया है ऐसे युग में भला ठंठ, फक्कड़ और सुफिमाना अंदाज वाले कबीर को याद करने की क्या आवश्यकता आन पड़ी? इसका उत्तर ढूँढने के लिए हमें कबीर की दुनिया में लौटना होगा कबीर ने अपने समकालीन व्यवस्था से दुखी होकर 'बैकुण्ठ लोक' की कल्पना की कबीर का बैकुण्ड वह आदर्श लोक था जो तत्कालीन छुआछूत जाँति-पाति, ऊंच-नीच, हिन्दू - मुसलमान आदि भेद भावों से मुक्त था, जिसमें सामाजिक समानता और समरसता को एक मात्र शर्त रखा गया था कबीर जब कहते हैं

कबीरा खड़ा बाजार में, लिये लुकाठी हाथ
जो घर जारै अपना, चलै हमारे साथ।।

कबीर अपना घर जलाकर हाथ में बुझी हुई मशाल (लुकाठी) लिये बाजार के चौराहे पर खड़े है और आम आदमी को यह आहवान कर रहे है कि मैं अपने हाथों से अपना घर जला चुका हूँ और अब मैं बैकुण्ठ की ओर जा रहा हूँ और तुम लोगों में अपना घर जलाने का साहस है तो जलाकर कर मेरे साथ चल सकते हो। कबीर ने बैकुण्ठ जाने की इतनी कठिन शर्त आखिर क्यों रखी कि अगर घर

जलाकर कर आओगे तभी बैकुण्ठ जाने के अधिकारी बन सकते हो और जो ऐसा नहीं सकता।

जबकि भाग्य आदमी की मजबूरी में है कि वह सारे दुनियावी कवायद महज एक घर बनाने और बसाने के लिए ही करता है और कबीर उसी घर को टूटने व जलाने का आह्वान कर रहे हैं तो क्या कबीर का दिमाग फिर गया था या वो पागल हो गये थे? ऐसे सवाल भी उठाये गये होगें कबीर की इस हरकत को देखकर। परन्तु जब इस आह्वान के पीछे छुपे कबीर की मन: स्थिति को हम परखते है तो पाते है कि ना तो उनका दिमाग फिरा था और ना ही वे पागल हुये थे। परन्तु वे इस सच्चाई को भली-भाँति जान गये थे कि आज लोग अपना घर भरने के चक्कर समाज में तरह-तरह के भेद भाव पैदा कर रहे है और इस काम में आम जन को लेकर राजा, सामंत, साधु संयासी सभी कोई शामिल हो गये है जिसका जहाँ मौका मिल रहा है वह छल प्रपंच करने से नहीं चुक रहा है-

तन को जोगी सब करै, मन को विरला कोई
सब सिद्धि पाइए, जो मन जोगी होई।

कबीर इस सूत्र को समझ गये थे इसलिए वे दुखी होकर सब कुछ त्यागने को राजी हुए क्योंकि वो जानते थे कि अगर हर कोई इसी तरह घर के मोह में पड़े रहकर उसे भरने की जुगत में लगा रहा तो कोई भी साबूत नहीं बचेगा सब लोग आपस में ही लड़ कट कर मर जायेंगे और दुनिया नष्ट हो जायेगी और कबीर इस स्थिति को आने से हर हाल में रोकना चाहते थे क्योंकि वे अपने अनुभवों और ज्ञान से यह तो समझ ही चुके थे कि मनुष्य का जन्म आसानी से नहीं मिलता है और बार-बार भी नहीं मिलता है, तो जो मानव जीवन इतना दुर्लभ है उसे वह आसानी से नहीं गँवाना चाहते थे और यदि एक बार यह जन्म व्यर्थ की चीजों में पड़कर समाप्त हो गया तो दुबारा किसी भी कीमत पर नहीं मिलेगा-

मानुष जन्म दुर्लभ है, देह न बारम्बार
तखर थे कल झड़ी पड्या, बहुरि न लागे डारि।

कबीर ने स्वयं भी छुआछूत और हिन्दू-मुसलमान का दंश ट्ठोला था इसलिए इस दंश को वह बेहतर समझते थे इसलिए वह जीवन भर इन प्रवृतियों से टकराते रहे ताकि आगे आने वाली पीढ़ी को एक बेहतर समाज दे सके और ऐसा नहीं है कि उन्होंने अपने 'बैकुण्ठ लोक' रूपी आदर्श लोक तुरन्त ही गढ़ लिया बल्कि इससे पूर्व उन्होंने पूरी शक्ति और शिद्दत से उस समाज को समझाने और सुधारने की कोशिश की और इस समाज को ऐसी दशा तक ले जाने के लिए जिम्मेदार पंडितों, मुल्लों को समझाने की कोशिश भी की न समझने पर उन्हें चेताया, डराया और धमकाया भी, कहने का आशय यह है कि हर तरह का प्रयास कर लेने के बाद उन्होंने अपना एक आदर्श लोक गढ़ा और ऐसे लोगों की तलाश प्रारंभ की जो तत्कालीन बुराईयों से मुक्ति हेतु घर जैसी आलिम वस्तुओं को जलाने या छोड़ने से परहेज ना करे। और अगर उन बुराईयों से मुक्त होने की इतनी बेचैनी की कोई आदमी अपने घर तक की परवाह नहीं कर रहा है तो इससे यह अंदाजा तो लग ही जाता है कि उन बुराईयों का असर समाज पर कितना था? परन्तु चाहे बुराईयों अपनी कितनी भी पैठ रखती हो और उन बुराईयों को फैलाने वाला कितना भी रसूखदार क्यों न हो कबीर ने भी किसी की परवाह नहीं की उन्हें जिनमें बुराई दिखी सीना तानकर कबीर उसके सामने आये।

माना इस बात की परवाह किये कि इस काम में उनका साथ देने कोई आगे आयेगा या नहीं या इसका परिणाम क्या होगा?इन बातों की कबीर ने कभी परवाह नहीं की परन्तु उन्हें जब ये लगा कि इस काम में उनका कोई और भी साथ दे सकता तो उसका साथ लेने में यहाँ उससे मदद में भी कबीर ने कभी संकोच नहीं किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस रामानंद को आकाशधर्मा गुरु की संज्ञा दी, जब कबीर को उसी रामानंद के बारे में जानकारी मिली कि वह भी उसी बुराई को मिटाने में लगे है। जिससे लड़ाई कबीर खुद लड़ रहे है, तब बिना इस बात की परवाह किये रामानंद हिन्दू और रामभक्त संत हैं लोट पड़े उनके चरणों में और माँग लिया नैतिक साहस और गुरु ने मुक्ति का मार्ग राम को बतायागा तब कबीर ने मान लिया गुरु की बात और रस बस गये राम भक्ति में, इस उम्मीद में कि इसी से सामाजिक बुराईयों पर विजय का पथ प्रदर्शित होगा। उनके लिए धर्म न हिन्दू या न मुसलमान, वे तो हमेशा इस बात का समर्थन करते रहे-

जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ वहाँ पाप
जहाँ क्रोध तहा काल है, जहाँ क्षमा वहाँ आप।

उन्होंने हमेशा दया को धर्म का स्वरूप माना और जिसके भी हृदय में दया को पाया उसे ही ईश्वर स्वरूप मान लिया। क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि जब तक मनुष्य दूसरे की पीड़ा को अनुभव नहीं करेगा जब दूसरे के दर्द को अपना दर्द नहीं समझेगा तब तक उसे मनुष्य कहना ही व्यर्थ है और जब वह सच्चा मनुष्य नहीं बन जाता तब ईश्वर की शक्ति करने के योग्य वह नहीं हो सकता और न ही उसे ईश्वर की महिमा ही प्राप्त होगी और अगर कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो वह अपना समय ही बर्बाद कर रहा है क्योंकि ऐसी दिखावटी भक्ति से उसका कुछ भी लाभ होने वाला नहीं है, वह समाज के साथ-साथ स्वयं को भी धोखा दे रहा है-

कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर
जो पर पीर न जानहीं सो का पीर में पीर।

कबीर ने हमेशा समाज में आमूलचूल परिवर्तन की बात को उन्होंने सिर्फ विरोध के लिए विरोध या दिखावे के लिए विरोध नहीं किया बल्कि उन्होंने समाज को एक नई दिशा दिखाने के लिए विरोध किया, यही कारण रहा कि आधुनिक युग के आलोचकों ने कबीर के विरोध को सिर्फ विरोध न मानकर उसे विद्रोह माना यानि एक ऐसा विरोध जो आपके समय की सड़ गल चुकी व्यवस्था के विकल्प के तौर पर यह नई और साफ सुथरी व्यवस्था प्रस्तुत करता है। इसलिए कबीर ने समाज की छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी हर समस्या को बड़ी ही बारीकी से देखा परखा और सुना और उसका विकल्प प्रस्तुत करने को कोशिश की, उन्होंने कभी किसी बात को छोटी समझकर उसको उपेक्षा नही की और बड़े काम का ढिढोरा नहीं पीटा। बल्कि अवसर के अनुकूल उचित निर्णय देने का प्रयास किया। क्योंकि कबीर जरूरत से ज्यादा बोलना भी उचित नहीं समझते थे।

और न किसी समस्या से मुँह मोड़कर चुप हो जाना ही उन्हें मंजूर था इसलिए वे कहा करते थे-

अति का भला न बोलना, अति की भली न चुप
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप

कबीर ने समाज को सुधाारने से पहले अपने को सुधारने पर जोर दिया दूसरे में बुराई ढूँढ़ने से पहले अपने भीतर की बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया तभी वह उस मुकाम को हासिल

कर पाये जिसकी वजह से हम आज भी समाज समरसतापूर्ण बनाने के लिए कबीर की तरफ ही देखने को मजबूर हो जाते है। लेकिन इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि कबीर यह भी मानते थे कि सिर्फ एक आदमी के सुधार जाने मात्र से भी यह समाज नहीं सुधार जायेगा परन्तु चूंकि शुरूआत तो कही न कहीं से करनी ही है तो क्यों न अपने से जाये, पर असली आनन्द तो तभी आयेगा जब पूरे समाज के लोग एक जैसा ही सोचे और व्यवहार करे नहीं तो अकेला किया तो भाड़ नहीं ही फोड पाता है। उन्हें इस बात का भी अच्छी तरह मान था कि लोग उनकी बाते तभी समझ पायेंगे जब उनके समझने का स्तर उनके समकक्ष हो और अगर ऐसा नहीं हुआ तो उनका सारा प्रयास व्यर्थ हो जायेगा इसलिए उन्होंने समाज में छोटे कार्य व्यापार करने वाले, छोटी जातियों से संबंध में छोटे कार्य व्यापार करने वाले, छोटी जातियों से संबंध रखने वाले सभी लोगों ज्ञान चक्षु खोलने का प्रयास किया उनके साथ अत्यधिक आत्मिकता प्रदर्शित की।

चूँकि समाज में इस वर्ग की संख्या अधिक थी इसलिए इनको संगठित और शिक्षित करने की ज्यादा आवश्यकता कबीर को महसूस हुई। वह इस बात को भी भली भाँति जानते थे कि अगर समाज का यह तबका उनकी बातों का महत्व और अर्थ न जाना पाया तब समाज को सुधारने का प्रयास महज एक दिवास्पटन से कुछ अधिक ना रह जायेगा इसलिए वे हमेशा इस बात के समर्थक रहे कि समाज का उपेक्षित वर्ग के भीतर चेतना जगाये बिना समाज का परिवर्तन असंभव है, क्योंकि तत्कालीन समाज का संभ्रात वर्ग तो कबीर की वाणी न सुनना चाहता थान समझना। ऐसे में कबीर के लिए आवश्यक था कि वे अपनी बात अपने लोगों को अच्छी तरह समझा पाये तभी उनके अपने जीवन की सार्थकता थी-

जब गुण को गाहक मिले, तब गुण लाख बिकाई।
जब गुण को गाहक नहीं, तब कौड़ी बदले जाई।

कबीर ने अपने जीवन को प्रयोग की भट्ठी की तरह इस्तेमाल किया वह समाज में कुछ भी बदलाव की इच्छा से पूर्व उसका प्रयोग अपने पर करना ही उचित समझते थे यही कारण है कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान सबकी बुराइयों को उन्होंने बेबाकी से उठाया। पंडितों और मुल्लों को सीधे-सीधे चुनौती दी और उनकी चुनौतियों स्वीकारी भी, परन्तु इसके बाद भी दोनों ही धर्मो के सामान्य जन का सर्वाधिक समर्थन उनके अपने धार्मिक नेताओं को न मिलकर कबीर को मिला। इसका कारण यह था कि सामान्य जनता को कबीर के कही बातों का भरोसा था। वे कबीर के चरित्र को भी अच्छी तरह जानते थे कि कबीर की वाणी जितनी तीखी है उनका चरित्र उतना साफ है। कबीर ने हमेशा ही अपने को अनुशासन और चारित्रिक नियंत्रण में रखा ताकि भूल से एक भी आदमी को उनकी चरित्र पर सुबहा न हो, वे कहते भी हैं-

शीलवन्त सबसे बड़ा, सब रतनन की खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन।।

कबीर हमेशा इस बात के पक्षधर रहे कि अगर मनुष्य ने अपना चरित्र खोया तो समझो उसने सबकुछ खो दिया और जिसका चरित्र सुरक्षित है तो मानो उसके पास तीनों लोकों की सारी सम्पदा उसके पास है। कबीर का यह मन्तव्य आज के समाज के नेताओं और समाज सुधारकों के लिए बहुत बड़ी सीख प्रदान करता है क्योंकि आज चाहे राजनेता हो या धर्म नेता कब उनकी

आंतरिक कमजोरियों उजागर हो जायेगी इसका पता ही नहीं चलता और पीड़ादामक बात तो यह है कि उनकी चारित्रिक कमजोरियाँ उजागर होने के बाद भी वे बेशर्म बने रहते है मानो ये तो छोटी-मोटी बात है। कबीर ने भक्ति को हमेशा एक चुनौती के रूप में स्वीकार है, जैसे तप करने वाला संयासी अपने शारीरिक कष्ट की परवाह किये बिना और निरंतर तप में लगे रहकर सिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा करता है, कबीर ने कभी उस रूप में तो तप नहीं किया और न ही उसकी जरूरत समझी वे तो सामान्य गृहस्थ का जीवन जीते हुए ईश्वर की भक्ति की और समाज को सही रास्ते पर लाने का प्रयास किया और अगर हम कबीर की माने तो सांसारिक जीवन जीते हुए भक्ति करना जंगल में जाकर एकान्त में तप करने भी ज्यादा चुनौती का काम है क्योंकि अकेले रहकर तो तप कोई भी कर सकता है परन्तु सामाजिक लोकाचार का निर्वाह करते हुए भक्ति करना ये सबके बस की बात नहीं है। इसके लिए तो कोई विरला ही चाहिए:-

कामी, क्रोधी, लालची, इनसे भक्ति न होय।
भक्ति करें कोई सूरमा, जाति वरन कुल खोय।।

तो ऐसी थी कबीर की भक्ति जिसे करने वाले को अपनी जाति और वर्ण सब कुछ का त्याग करना पड़ता है। आज के दौर की घटनाओं से कबीर की इस कथन की तुलना करते है तो पता चलता है कि कबीर ने कितनी तरह की चुनौतियों का सामना किया। कबीर ने भक्ति करने के लिए जहाँ जाति और वर्ण की परवाह नहीं की वहीं आज की भक्ति (तथा कथित) अपनी जाति और वर्ण को साबित करने के लिए ही की जा रही है। मलिक मुहम्मद जायसी की कालजयी रचना 'पद्मावत' पर बनी फिल्म और उससे उपजे विवाद के संदर्भ में इस बात को भली-भांति समझा जा सकता है। समाज में सामान्य नियम यह है कि किसी की आलोचना करने के लिए भी उसकी जानकारी होगी जरूरी है परन्तु पद्मावत के संदर्भ में जाति और वर्ण का दंभ इतना हावी है कि हम उसकी रक्षा के नाम पर बगैर सच्चाई जाने ही हिसात्मक आन्दोलनों की अगुआई करने लगे हैं। ऐसी परिस्थितियों के बीच कबीर ज्यादा याद आते हैं कि उन्होंने तो अपना सब कुछ दाव पर लगा दिया उन पर अंध भक्ति का आरोप ना लगे परन्तु आज हम अंध भक्ति को सच्ची भक्ति मानकर भक्त होने का दावा करने में मशगुल है। कबीर के लिए जाति कभी महत्वपूर्ण न रहा और शायद यही कारण है कि उनकी जाति और उनका धर्म हम बाज तक भी साबित न कर पाये इसलिए उन्हें हिन्दुओं ने हिन्दू और मुसलमानों ने मुसलमान मान लिया। परन्तु अपनी पूरी लेखनी में कबीर ने अपनी जाति और धर्म की खुली घोषणा नहीं की बल्कि इसके विपरीत वे लगातार यही कहते रहे-

जाति न पूछो साधू की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तरवार को पड़ा रहन दो म्यान।।

कबीर ने दुनियादी व्यापार को सिर्फ मोहमाया ही माना और यह समझाने की कोशिश की कि जितना इसके चक्कर में पड़ेगा उतना दुख पायेगा और पूरे जीवन कभी भी इससे मुक्त नहीं हो पायेगा और इसके मोह में पड़कर भी सुख तो नहीं ही मिल पायेगा बल्कि खाली हाथ आया था खाली हाथ ही जायेगा। इसलिए अगर इस आन-जान के चक्कर से मुक्ति चाहता है तो धन का मोह त्यागकर अपने को ईश्वर मोह में लगा ले। ऐसी सलाह उन्होंने राजा से लेकर फकीर तक को दी क्योंकि उनका मानना था कि कोई भी चाहे वह कितने ही बड़े सिंहासन पर क्यों न बैठता हो

सांसारिक मोह से अपने को मुक्त नहीं करेगा तो अंत काल में दुख ही पायेगा, क्योंकि धरती को मृत्युलोक माना गया है। यहाँ जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है चाहे कोई भी हो, कोई नहीं बच सकता–

आय है सो जाएँगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन यदि पले, एक बँधेजात जंजीर।।

कबीर ने इस सूत्र को भली भाँति समझ लिया था इसलिए वह कमी में धन संयम करने के मोह में नहीं पड़े। भले उन्हें भीषण गरीबी का भी सामना करना पड़ा हो परन्तु फिर भी उन्होंने अपना संकल्प नहीं छोड़ा क्योंकि वे दुनिया के मूल रहस्य को जान चुके थे। इसलिए निश्चिन्त भाव से ईश्वर की भक्ति में लगे रहते थे धन का लालच उन्हें छू भी न पाया, भले एकाधरात भोजन ने मिलने पर पानी पीकर ही सोना पड़ा हो परन्तु कबीर ने ऐसी दशा को भी आनन्द के तौर पर ही अपनाया और कभी भी अपने आराध्य से अपनी इस दशा की शिकायात या कोई फरियाद नहीं की क्योंकि उनका मन राम भक्ति में ऐसा रम गया था कि संसार का सारा आनन्द उन्हें उसी में मिल जाता था और जब मैंने इतना आनंदित हो तो फिर भूख और गरीबी की भला किसे परवाह? वे तो वेपरवाह है उन्हें असली सुख तो फकीरी में ही मिल रहा है–

मन लागो मेरा राम फकीरी में
जो सुख पावौं राम भजन में, सो सुख नाहिं अमीरी में।
भली बुरी सबकी सुनि लीजै, कर गुजारन गरीबी में।

कबीर इस बात को भली–भाँति जानते थे कि समाज को सही रास्ते पर लाने का काम संत ही कर सकते है यह किसी राजा महाराजा के वश की बात नहीं हैं और अगर हम आज के संदर्भ में इस बात को समझे तो कहना होगा कि यह किसी राजनीतिक नेता राजनेता के वश की बात नहीं है। कबीर के जमाने में भी इस कार्य को संत ही कर रहे थे और आज भी अगर कोई इस काम को करेगा तो वह संत ही करेगा, इसलिए उन्होंने हमेशा संतों को जगाये रखने का काम किया और उन्हें समाज से दूर जाकर एकान्तवास करने के बजाय समाज में रहकर लोगों का पथ प्रदर्शन करने का आग्रह किया क्योंकि उन्हें ये बात अच्छी तरह से पता थी कि समाज के लोगों में संतों के प्रति स्वाभाविक आस्था होती है इसलिए लोग अन्य लोगों के मुकाबले संतों की बात पर जल्दी और असानी से भरोसा कर लेते है, इसलिए उन्होंने संतों को समाज के दोहरी जिम्मेदारी का बोध कराया ताकि वे समाज के बीच रहकर उसे सुधरने का कार्य कर सके। वे समय–समय पर संतों को भी जगाते और चेताते रहे–

संतो जागत नींद न कीजै।
काल न खाम कलप नहिं लापै। देह जुरा नहिं छीजै।

परन्तु इसका ये मतलब न था कि समाज की एकमात्र जिम्मेदारी संतो की ही थी और समाज के बाकी लोग अपनी मनमानी करते रहे। उनका मानना था कि समाज में मौजूद सभी लोगों की कुछ–न–कुछ जिम्मेदारी अवश्य है, उसकी मात्रा कम ज्यादा हो सकती है परन्तु कोई उससे बच नहीं सकता। कोई भी अपने दायित्व से भाग नहीं सकता, कोई ये बहाना नहीं कर सकता कि संत तो अपना काम कर ही रहे हैं तो हमारे लिए करने को क्या बचा है? कबीर को जहाँ कही भी

ऐसी बातों को या प्रवृतियों का अहसास हुआ उन्होंने तुरन्त ही उस प्रहार किया और उसे ठीक करने की कोशिश की लोगों को पथ भ्रष्ट होता देख वे कह उठते हैं–

आया था किस काम को, तु सोया चादर तान।
सुरत सम्माल ए गाफ़िल, अपना आप पहचान।

कबीर ने माँग कर खाने की प्रवृति का हमेशा विरोध किया चाहे वह संत हो या सामान्य। उनका मानना था कि किसी के सामने हाथ फैलाने से व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है समाज में उनकी को इज्जत नहीं करता ना ही कोई उसकी बातों पर ध्यान ही देता है। इसलिए कबीर स्वयं संत जैसा जीवन धारण करने के बावजूद भी जीविका के लिए अपने पुश्तैनी कार्य को नहीं छोड़ा वो जीवन पर्यन्त कपडा बुनकर अपनी जीविका चलाते रहे और बाकी साथियों से भी अपना पुश्तैनी कार्य करते रहने का आग्रह भी करते रहे इसका असर यह हुआ कि कबीर के सारे साथी अपनी जीविका का प्रबन्ध अपने–अपने नीजी कार्यो से करते रहे कभी किसी ने भीख नहीं माँगी और यही उनकी सबसे बड़ी ताकत सिद्ध हुई क्योंकि वे भीख माँगकर जीवन पालने से मर जाना बेहतर समझते थे–

माँगन मरण समान है, मति माँगो कोई भीख
माँगन से तो मरन भला, यह सतगुरु की सीख

परन्तु इसके बाद भी कबीर के जमाने में भी ऐसे संतों कुसंतों की कमी न थी जिन्होंने संत परम्परा को कलंकित ही किया। आज तो खैर ऐसे ही संत शेष बच गये है। कबीर की परम्परा वालों तो संगगण विलुप्त ही हो गये है। उस जमाने में भी कुछ संतों ने समाज को पथ भ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी, परन्तु कबीर ने किसी को भी नहीं बक्शा। इसलिए जब आज वैसे प्रवृत्ति वालों लोगों और संतों की भरमार हो गई है तो हमें आज के डिजिटल युग में कबीर को याद करने के की आवश्यकता पड़ गई है और न सिर्फ याद करने की बल्कि उनके द्वारा बताये गये मार्ग को भी अपनाने की आवश्यकता है क्योंकि आज ज्यादातर लोग जो कबीर के अनुगामी होने का दावा कर रहे है वो कबीर को उसी मंदिर, मस्जिद वाली परम्परा में स्थापित कर उनको पूजा करने पर ज्यादा आस्था रखते है ना कि उनके द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करने में। कबीर ने अपना जीवन पूरी पवित्रता से जिया उन्होंने आला रूप चादर को कभी मैली नहीं होने दी और जैसी चादर उन्होंने पाई थी वैसी ही लौटा भी दी थी, जो किसी सामान्य साधू या संत के वश की बात नहीं थी और लौटाते वक्त वह कह भी जाते हैं– ''दास कबीर जतन से ओढ़ी और ज्यों को इससे प्रेरणा मिलती रहे कि जीवन पवित्रता से ही जीने का नाम है वरना मौत ही क्या बुरी है।

अनिल कुमार सिंह, हिन्दी विभाग, सहायक प्रोफेसर, आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज

डिजिटल इंडिया से डिजिटल गाँव तक : लक्ष्य एवं सफलताएँ

डॉ. रोली रघुवंशी
डॉ. आदित्य पी. त्रिपाठी

प्रथम विजन स्तम्भ : प्रत्येक नागरिक के लिए एक मुलभूत उपयोगी सुविधा के रूप में डिजिटल आधारभूत संरचना की उपलब्धता : यह स्तम्भ इस बात पर जोर देता है कि ई-गवर्नेंस को प्रभावी ढंग से लागु करने के लिए जो मुलभुत सुविधाएं आवश्यक हैं सर्वप्रथम उन्हें मजबूत किया जाये इन सुविधाओं में निम्न को शामिल किया गया है

भारत को डिजिटल रूप से सशक्त समाज और ज्ञान-केन्द्रित अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से वर्तमान सरकार ने 'डिजिटल इंडिया' जैसी महत्त्वाकांक्षी योजना को वर्ष २०१५ में लागू किया ।

यदि हम ई-गवर्नेंस प्रयासों की समीक्षा करें तो पता चलता है कि मधय ९० के दशक में नागरिक सेवाओं को इसके दायरे में लाकर इसे और प्रभावी बनाने का प्रयास आरंभ हुआ । तदन्तर बहुत से राज्यों एवं केंद्र शासित प्रदेशों ने भी अनेकानेक ई-गवर्नेंस योजनायें शुरू की और राष्ट्रीय स्तर पर वर्ष २००६ में नेशनल ई-गवर्नेंस प्लान की घोषणा की गई । बावजूद इसके की ये सब योजनायें नागरिक अभिमुखी थीं फिर भी इनके वांछित प्रभाव नहीं मिल सके ।

कालांतर में ऐसा महसूस किया गया कि देश में समावेशी विकास को प्रोत्साहित करने हेतु ई-गवर्नेंस की प्रभावशाली उपस्थिति न सिर्फ आवश्यक अपितु अपरिहार्य है। सार्वजानिक सेवाओं की संपूर्ण संरचना को सूचना प्रौद्योकी के प्रयोग द्वारा परिमार्जित, संशोधित एवं नागरिक अभिमुखी बनाने हेतु वर्तमान सरकार ने डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की शुरुआत वर्ष २०१५ में की ताकि भारत को डिजिटल रूप से सशक्त समाज के रूप में स्थापित किया जा सके ।

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम के आधाार स्तम्भ : डिजिटल इंडिया कार्यक्रम अपने मुख्य उद्देश्य के अनुरूप तीन आधाारभूत विजन स्तंभों पर केन्द्रित है :

प्रथम विजन स्तम्भ : प्रत्येक नागरिक के लिए एक मुलभूत उपयोगी सुविधाा के रूप में डिजिटल आधाारभूत संरचना की उपलब्धाता : यह स्तम्भ इस बात पर जोर देता है कि ई-गवर्नेंस को प्रभावी ढंग से लागु करने के लिए जो मुलभुत सुविधााएं आवश्यक हैं सर्वप्रथम उन्हें मजबूत किया जाये इन सुविधाओं में निम्न को शामिल किया गया है

नागरिकों को सेवाएं प्रदान करने हेतु एक मूल सुविधाा के रूप में द्रुत गति इन्टरनेट सुविधाा का उपलब्धा होना ।

प्रत्येक नागरिक को एक ऐसी डिजिटल पहचान देना जो अनोखी, जीवनपर्यंत, ऑनलाइन और विश्वसनीय हो ।

- डिजिटल एवं वित्तीय वातावरण में नागरिकों की सहभागिता सुनिश्चित करने हेतु उन्हें मोबाइल फोन और बैंकिंग खाते की सुविधा प्रदान करना

भारत को डिजिटल रूप से सशक्त समाज और ज्ञान-केन्द्रित अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से वर्तमान सरकार ने 'डिजिटल इंडिया' जैसी महत्त्वाकांक्षी योजना को वर्ष २०१५ में लागू किया । विभिन्न आंकड़ों एवं रिपोर्टों से इस योजना के काफी सकारात्मक एवं उद्देश्यानुरूप परिणाम तो मिल रहे हैं किन्तु यह योजना वास्तविक भारत (ग्रामीण) जोकि इंडिया से काफी भिन्न है, उस तक पूर्ण रूप से पहुँच पायी है अथवा नहीं, यह विश्लेषण का विषय है । महात्मा गाँधी ने कहा था कि 'भारत की आत्मा इसके गावों में बसती है।' इस कथन के अलोक में यह जानना जरुरी हो जाता है कि क्या डिजिटल इंडिया जैसी महत्त्वाकांक्षी एवं जन-सुविधा केन्द्रित योजना का लाभ भारत की आत्मा तक पहुँच पाया है ? प्रस्तुत लेख का उद्देश्य उन तथ्यपरक बिन्दुओं पर विचार करना है जो डिजिटल इंडिया से डिजिटल गाँव की यात्रा में अवरोधक बने हुए हैं ताकि सरकार द्वारा इस दिशा में सुधारात्मक उपाय किये जा सकें और भारत डिजिटल रूप से सशक्त समाज के रूप में स्वयं को स्थापित करने के अपने उद्देश्य को सही मायनों में प्राप्त कर सके ।

- कॉमन सेवा केन्द्रों तक सहज पहुँच को सुनिश्चित करना
- सुरक्षित एवं विश्वसनीय साइबर स्पेस
- सार्वजनिक क्लाउड पर व्यक्तिगत स्थान प्रदान करना

यदि उपरोक्त सुविधाओं का विश्लेषण करें तो यह पता चलता है है कि डिजिटल इंडिया कार्यक्रम के लिए प्रथम स्तम्भ के रूप में इन मूल सुविधाओं एवं आधारभूत संरचना का होना न सिर्फ आवश्यक बल्कि अपरिहार्य है। ये स्तम्भ इस बात को भी अभिप्रमाणित एवं साक्ष्यांकित करते हैं कि सरकार इस बात से अवगत है कि ९० के दशक में आरंभ की गई ई गवर्नेंस योजना आज तक मूर्त रूप क्यों नहीं ले पाई . ।

द्वितीय विजन स्तम्भ : मांग पर गवर्नेंस एवं सेवाएँ : इस स्तम्भ के अंतर्गत उन सभी बिन्दुओं एवं समस्याओं को शामिल किया गया है जो सार्वजनिक सुविधाओं एवं सेवाओं की मांग पर एक नागरिक अनुभव करता है

- विभिन्न विभागों अथवा न्यायाधिकारों में अवरोध मुक्त एकीकृत सेवा प्रदान करना।
- रियल टाइम बेसिस पर ऑनलाइन और मोबाइल प्लेटफार्म द्वारा सेवाएँ प्रदान करना ताकि कार्यालय के कार्य समय कोई अवरोध न बने।
- समस्त नागरिक अधिकार वहनीय हों और क्लाउड पर उपलब्ध हों।
- व्यापार करने में सहजता (ease of doing business) को सुधारने हेतु डिजिटली परिमार्जित सेवाएं प्रदान करना
- वित्तीय लेन-देनों को कैशलेस एवं इलेक्ट्रॉनिक बनाना
- निर्णय लेने में सहायता करने एवं विकास हेतु जिओस्पेसियल इनफार्मेशन सिस्टम (GIS) को प्रभावी बनाना

डिजिटल इंडिया के इस स्तम्भ का उद्देश्य सरकरी तंत्र में विद्यमान उन समस्त कमियों को दूर करना है जो ई-गवर्नेंस के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती रही हैं ।

तृतीय विजन स्तम्भ : नागरिकों का डिजिटल सशक्तिकरण :

- सार्वभौमिक डिजिटल साक्षरता
- डिजिटल संशधनों की सर्वत्र उपलब्धता
- डिजिटल संशधनों/सेवाओं की भारतीय भाषाओं में उपलब्धता
- सहभागितापूर्ण गवर्नेंस के लिए संयुक्त डिजिटल प्लेटफार्म का होना
- नागरिकों द्वारा सरकारी प्रपत्रों/प्रमाणपत्रों को भौतिक रूप में जमा करने की आवश्यकता को समाप्त करना।

इन तीन आधार विजन स्तंभों पर आधारित डिजिटल इंडिया कार्यक्रम को मूर्त रूप देने हेतु सरकार द्वारा मानक एवं नीतिगत दिशा-निर्देश बनाये गए हैं ताकि डिजिटल इंडिया को इसके वास्तविक एवं प्रभावी रूप में लागू करते समय आने वाले व्यवधानों से निपटा जा सके । डिजिटल इंडिया कार्यक्रम लगभग तीन वर्ष पुरे करने जा रहा है, यदि २०१५ से २०१८ की इसकी उपलब्धियों को देखें तो निश्चित रूप से दृष्टिमान परिवर्तन आये हैं चाहे वह नागरिक सुविधाएँ हों, बैंकिंग सेवाएँ अथवा आधारभूत संरचना ।

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम जो की नौ महत्त्वपूर्ण स्तंभों पर आधारित होकर कार्यशील है उसकी सफलता के आंकड़े प्रति पल इस कार्यक्रम के मुख्य उद्देश्य को मूर्त रूप प्रदान कर रहे हैं। यदि हम २०१५ से आरंभ करें तो जिन प्रमुख दृष्टिमान लक्ष्यों के साथ इसे शुरू किया गया था, उसे सारणी –२ से समझा जा सकता है :

सारणी -२

डिजिटल इंडिया कार्यक्रम : वर्ष २०१५ में आम नागरिक की दृष्टि में
कुल निवेश का आकार : ४.५ लाख करोड़ (भारतीय कंपनियों द्वारा) वर्ष २०१५
१००,००० करोड़ रुपये की कार्यशील योजनायें
१३,००० करोड़ रुपये की नवीन योजनायें एवं कार्य

१. २.५ लाख गावों में ब्रॉडबैंड सुविधा	२. ४,००,००० सार्वजानिक इन्टरनेट सुविधा पॉइंट
३. सार्वभौमिक फोन कनेक्टिविटी	४. २.५ लाख स्कूलों एवं समस्त विश्वविद्यालयों में वाई दृफाई की सुविधा
५. नागरिकों के लिए सार्वजानिक हॉट–स्पॉट्स	६. वर्ष २०२० तक नेट जीरो आयात
७. रोजगार सृजन : प्रत्यक्ष : १.७ करोड़ अप्रत्यक्ष : ८.५ करोड़	८. डिजिटल समावेश (इन्क्लूजन) १.७ करोड़ लोगों को सूचना प्रौद्योगिकी, टेलिकॉम एवं इलेक्ट्रॉनिक नौकरियों हेतु प्रशिक्षित करना
९. डिजिटली सशक्त नागरिक	१०. ई दृगवर्नमेंट एवं ई–सेवाएँ

रुरु उपरोक्त आंकड़े वर्ष २०१५ में डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की शुरुआत के समय विभिन्न समाचार पत्रों एवं सोशल मीडिया में प्रकाशित विज्ञापनों से संकलित किये गए हैं और आम जन मानस को इससे होने वाले लाभों की व्याख्या करते हैं । / बजट २०१८–१९ में भारत सरकार द्वारा इस कार्यक्रम को ३०७३ करोड़ रुपये का आवंटन किया गया है जोकि गत वर्ष की तुलना में दोगुना है और यह सरकार की इस योजना के प्रति प्रतिबधता का परिचायक है । डिजिटल इंडिया से डिजिटल गांव तक : भारत मूलत: एक ग्राम प्रधान अर्थव्यवस्था वाला देश है । २०११ की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का ६८.८% गांवों में निवास करता है और देश की कुल कार्यशील जनसंख्या का ७२.४% भी ग्रामीण क्षेत्रें से ही आता है । यद्यपि कि बढ़ते हुए

शहरीकरण के कारण कुल जनसंख्या, कार्यशील जनसंख्या एवं देश की जीडीपी में ग्रामीण क्षेत्र की भागीदारी वर्ष दर वर्ष कम हुई है (सारणी -१) किन्तु फिर भी समग्र रूप से ग्रामीण क्षेत्र का योगदान भारत को आज भी ग्राम प्रधान देश बनाता है। जनसंख्या के अनुमान यह बताते हैं की वर्ष २०५० तक भारत अधिकाधिक रूप से ग्रामीण देश की श्रेणी में ही चलता रहेगा क्यूंकि वर्ष २०५० के बाद शहरी जनसंख्या ग्रामीण से ज्यादा हो जाएगी (यूनाइटेड नेशनस, २०१२) ।

सारणी -१

ग्रामीण भारत का शुद्ध घरेलु उत्पाद (NDP) एवं कार्यशील जनसंख्या में योगदान

वर्ष	आय में हिस्सा	कार्यशील जनसंख्या (प्रतिशत में)
१९७०–७१	६२.४:	८४.१:
१९८०–८१	५८.९:	८०.८ :
१९९३–९४	५४.३:	७७.८:
१९९९–२०००	४८.१:	७६.१:
२००४–२००५	४८.१:	७४.६:
२०११–२०१२	४६.९:	७०.९:

स्रोत : Cited from Discussion paper on Changing Structure of Rural Economy of India % Implications for Employment and Growth] published by Ramesh Chand et-al-] 2017]National Institution for Transforming India] NITI Ayog] Pg-3

भारतीय अर्थव्यवस्था में ग्रामीण क्षेत्र के योगदान के ये आंकड़े इस बात को सिद्ध करते हैं की ग्रामीण भारत का विकास एवं अभिवृद्धि देश के समग्र एवं समावेशी विकास के लिए अत्यंत महत्तवपूर्ण है । भारत के बारे में कहा जाता है की इसकी आत्मा इसके गावों में बसती है, इस कथन के अलोक में यह जानना जरुरी हो जाता है कि क्या डिजिटल इंडिया जैसी महत्त्वाकांक्षी योजना का लाभ भारत की आत्मा तक पहुँच पाया है? प्रस्तुत लेख का उद्देश्य उन तथ्यपरक बिन्दुओं पर विचार करना है जो डिजिटल इंडिया से डिजिटल गाँव की यात्रा में अवरोधक बने हुए हैं ताकि सरकार द्वारा इस दिशा में सुधारात्मक उपाय किये जा सकें और भारत डिजिटल रूप से सशक्त समाज के रूप में स्वयं को स्थापित कर सके ।

शहरी इंडिया बनाम ग्रामीण भारत : गौरवशाली सफलता के बीच अभाव एवं निराशा

जनवरी २०१८ के अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के विकास दर अनुमानों के अनुसार भारत अगले दो वर्षों तक विश्व की सबसे तेज विकास दर वाली अर्थव्यवस्था के रूप में उभर कर सामने आया है। आईएमएफ़ की रिपोर्ट के मुताबिक भारत के विकास की दर वर्ष २०१८ में ७.४% तथा २०१९ में ७.८% रहने की सम्भावना है , जोकि वैश्विक विकास दर ३.९% से लगभग दोगुनी है ।

प्रतिभा प्रतिस्पर्धात्मकता के वैश्विक इंडेक्स २०१८ (Global Index of Talent

Competitiveness 2018) में भारत ने इस वर्ष सुधार के साथ विश्व में ८१वाँ स्थान हासिल किया है जोकि वर्ष २०१७ में ६२वें स्थान पे था । यद्यपि कि इस अनुसूची में इस वर्ष भी उच्च आय वाले देशों का दबदबा बरकरार रखते हुए स्विट्जरलैंड प्रथम स्थान पर रहा, किन्तु भारत की यह ११ अंकों की छलांग संपूर्ण भारत वर्ष के लिए गौरव का विषय है ।

सरकारी कामकाज में यदि विश्वास की बात की जाए तो भारत की गणना विश्व के शीर्ष तीन देशों में की जाने लगी है (ग्लोबल ट्रस्ट इंडेक्स २०१८), और चीन तथा इंडोनेशिया के बाद ६८ अंकों के साथ भारत ने स्वयं को वैश्विक स्तर पर सम्मानजनक रूप में स्थापित किया है । यह रैंकिंग इस बात को सिद्ध करती है कि वर्तमान सरकार के डीमोनेटाइजेशन और जीएसटी जैसे कड़े सुधारात्मक उपायों को वैश्विक स्तर पर कुछेक अवरोधों के साथ समर्थन भी प्राप्त हुआ है।

इन सभी सकारात्मक संकेतों के मधय इंडिया तो आगे बढ़ रहा है और बढ़ता रहा है लेकिन यहाँ यह जानना अत्यावश्यक है कि इण्डिया का वह हिस्सा (ग्रामीण) जिसे हम वास्तविक भारत कहते हैं उसकी प्रगति किस स्तर तक पहुंची है । क्रेडिट सुईस ग्लोबल वेल्थ डेटा २०१७ के अनुसार भारत के अत्यधिक धानी १% लोग यहाँ के कुल सृजित सम्पदा के ७३% भाग पर कब्जा बनाये हुए हैं, जोकि इस बात को प्रमाणित करता है कि हमारा विकास समावेशी नहीं है । यह स्थिति और चिंताजनक इसलिए हो जाती है क्यूंकि गत वर्ष के सर्वेक्षण में १% लोगों के पास सिर्फ ५८% सम्पदा थी। यानि गरीब और अत्यधिक धनी के बीच की खाई और बढ़ी है । ऑक्सफेम इंडिया के सर्वेक्षण २०१७ के अनुसार भारत की ६७ करोड़ जनता जो कुल जनसंख्या के ५०% अति-निर्धान वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं उनकी कुल संपत्ति में एक वर्ष में सिर्फ १% की बढ़ोतरी दर्ज की गई । यदि ग्रामीण मजदूर के न्यूनतम मजदूरी की तुलना भारत के किसी शीर्षस्थ गारमेंट फर्म के उच्चस्थ एग्जीक्यूटिव के वार्षिक आय से की जाये तो यह पता चलता है की ग्रामीण मजदूर को उस आय तक पहुँचने में ६४१ वर्ष लगेंगे । इस समस्या का सिर्फ एक ही समाधान है और वह है समावेशी विकास की नीति अर्थात निम्न आय वर्ग के लोगों की आय को बढाने हेतु प्रयास किया जाना चाहिए । अब वो चाहे श्रम प्रधान उद्योगों को बढ़ावा देकर किया जाए ताकि रोजगार का सृजन हो सके या फिर कृषि में सरकारी निवेश के साथ सामाजिक सुरक्षा योजनाओं को प्रभावशाली ढंग से लागू करके ।

समावेशी विकास एवं डिजिटल इंडिया : भारत का समावेशी विकास तभी हो सकेगा जब समस्त सुविधाएँ सीमान्त व्यक्तिधनागरिक तक पहुंचेंगी और इन्हें पहुँचाने के लिए न सिर्फ सरकरी तंत्र एवं व्यवस्था में बदलाव की आवश्यकता है अपितु नागरिकों को इसकी सूचना और इन सुविधाओं तक पहुँचने हेतु आवश्यक कौशल प्रदान करने की भी आवश्यकता है। डिजिटल इंडिया निश्चित रूप से सरकारी सुविधाओं सेवाओं को उसके असली हकदार तक पहुँचाने के एकमात्र माध्यम के रूप में सामने आया है । ऐसे में इस कार्यक्रम को भारत के गांवों तक पहुँचाना न सिर्फ आवश्यक है बल्कि अपरिहार्य है । यद्यपि कि डिजिटल इंडिया के तीनों ही आधारभूत स्तंभों को प्रभावी रूप से ग्रामीण भारत में लागू करने की जरुरत है किन्तु मोबाइल और बिजली की सुविधा

यदि भारत के हर गाँव तक पहुंचा दी जाये तो शायद समस्या का समाधान काफी हद तक हो जायेगा। डिजिटल इंडिया को डिजिटल भारत तक पहुँचाना क्यों आवश्यक है इसके लिए निम्न तथ्य विचारणीय है :

यदि हम इन्टरनेट पेनेट्रेशन की बात करें तो आंकड़े बताते हैं कि दिसम्बर २०१७ में शहरी भारत में इन्टरनेट पेनेट्रेशन ५६% रहा है और ग्रामीण भारत में यह प्रतिशत मात्र १८% है। आइएएमएआइ की भारत में इन्टरनेट २०१७ की रिपोर्ट के मुताबिक ग्रामीण एवं शहरी भारत में इन्टरनेट यूसेज में कफी बड़ा अंतराल पाया गया है जोकि ग्रामीण भारत के तकनीकी पिछड़ेपन का प्रमाण है । रिपोर्ट इस बात का भी सुझाव देती है की भविष्य में जो भी नीतियाँ बनाइ जाएँ उनमे इस डिजिटल अंतराल को दूर करने हेतु समुचित प्रयास किया जाना चाहिए । २०११ की जनगणना के अनुसार ग्रामीण भारत जिसकी जनसंख्या ६१८ मिलियन अनुमानित की गई थी, इसमें से सिर्फ १८६ मिलियन लोग ही इन्टरनेट का प्रयोग करते हैं अर्थात ७३२ मिलियन ग्रामीण लोग आज भी इन्टरनेट सेवा से दूर हैं जो कि चिंता का विषय है। दिसम्बर २०१७ में भारत में कुल इन्टरनेट प्रयोग करने वालों की संख्या ४८१ मिलियन अनुमानित थी जोकि २०१६ की संख्या से ११.३४% ज्यादा है, और ऐसा अनुमानित है कि जून २०१८ तक यह संख्या ५०० मिलियन हो जाएगी । यदि संपूर्ण भारत की बात करें कुल जनसंख्या का ३५% लोग ही इन्टरनेट का प्रयोग करते है और इनमे भी कुल संख्या का ६०% भाग युवा वर्ग के हिस्से में है । यहाँ प्रयास यह होना चाहिए कि प्रत्येक आयु वर्ग तक डिजिटल सुविधाओं की पहुँच हो ।

दूसरी प्रमुख समस्या ग्रामीण विद्युतीकरण की रही है जिस पर वर्तमान सरकार ने काफी हद तक सफलता प्राप्त कर ली है । यदि आंकड़ों की बात करें तो अंतर्राष्ट्रीय उर्जा एजेंसी के अनुसार भारत ने वर्ष २००० से विद्युतीकरण में काफी प्रगति की है और वर्ष २०१६ में कुल जनसंख्या के ८२% लोगों तक बिजली पहुँच दी गयी है । हमारा व्यक्तिगत विचार यह है कि आंकड़ों पर संदेह करने और विद्युतीकरण की परिभाषा पर प्रश्न उठाने की बजाय हमे इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सरकार लगातार इस दिशा में प्रयासरत है और यदि प्रयास हैं तो सफलता अवश्य मिलेगी । चुनौतियां एवम सुझाव :

डिजिटल इंडिया से डिजिटल गाँव तक की यात्रा में कुछ महत्तवपूर्ण चुनौतियाँ हैं जिनकी चर्चा यहाँ की गई है ताकि उन चुनौतियों पर विजय प्राप्त करके इस महत्त्वाकांक्षी योजना को मूर्त रूप दिया जा सके : 1 सरकारी 'प्रस्ताव हेतु अनुरो' में निजी क्षेत्र की रूचि न होना : डिजिटल इंडिया कार्यक्रम की धीमी रफ्तार का एक प्रमुख कारण अध: संरचना का विलंबित विकास है । निजी क्षेत्र अपनी रूचि इसलिए नहीं दिखा रहे क्योंकि ये प्रस्ताव वाणिज्यिक प्रतिफल प्रदान करने में समर्थ नहीं हैं । इसके लिए यह आवश्यक है विकास के पीपीपी मॉडल को बढ़ावा दिया जाये और स्टार्ट - अप को ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल इंडिया के अंतर्गत डिजिटल साक्षरता और आधार संरचना हेतु विशेष प्रोत्साहन दिया जाये । यदि निजी क्षेत्र भी अपनी भागीदारी दे दो न्यूनतम समय

में इस कार्यक्रम के वंचित परिणाम प्राप्त हो सकते हैं । निजी क्षेत्र की भागीदारी को हाल हीमें आईसीआईसीआई बैंक की टीम द्वारा नवम्बर २०१६ में लिए गए एक संकल्प के अंतर्गत १०० दिनों में देश के १७ राज्यों के १०० गावों को पुर्णत: डिजिटल बनाया गया ।

२. दूसरा प्रमुख अवरोधा मेट्रो शहरों, महानगरों, नगरों एवं ग्रामीण क्षेत्रों में डिजिटल अन्तराल का है । आज भी भारत में लगभग ५५००० ऐसे गाँव हैं जहाँ मोबाइल की सुविधा उपलब्ध नहीं है (Assocham & Deloitte Report, January 2017) और इसका एक मात्र कारण यह है की मोबाइल सेवा प्रदाता को इन क्षेत्रों में सेवा देने की लागत उसके आय से काफी ज्यादा होगी । इस रिपोर्ट की मानें तो अंतरराष्ट्रीय मानक जो यह कहता है कि प्रति १५० लोगों पर एक वाई-फाई हॉट स्पॉट होना चाहिए और तदनुरूप भारत में ८० लाख वाई-फाई होटस्पोट्स की आवश्यकता है जबकि अभी हमारे पास सिर्फ ३१००० होत्स्पोट्स उपलब्ध हैं। ये आंकड़े यह बताते हैं कि आधारभूत संरचना को और मजबूत किया जाना चाहिए ।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि डिजिटल इंडिया वास्तव में समय की मांग थी जिसको सरकार ने समझा और इसे मूर्त रूप देने के लिए एक संगठित प्रयास किया ताकि भारत को एक ज्ञान अभिमुखी अर्थव्यस्था जो डिजिटल रूप से भी सशक्त हो, के रूप में स्थापित किया जा सके। इस योजना से जन सेवाओं में एक द्रष्टिगत क्रांति आई है और वैश्विक स्तर पर सरकारी काम काज में लोगों का विश्वास में आशातीत वृद्धि हुई है। आवश्यकता बस इस बात की है कि इस क्रांति को भारत के दूरदराज गावों तक शीघ्रता से पहुँचाया जाये जिससे समग्र एवं समावेशी विकास के उद्देश्य को पूरा किया जा सके । ग्रामीण विद्युतीकरण में सरकार की सफलता इस बात को सिद्ध करती है कि यदि संकल्प दृढ है तो सिद्धि अवश्य मिलेगी ।

सन्दर्भ :

1. Global Wealth Report 2017,Eighth Edition, Credit Suisse, accessed online on April 20th, 2018 at 2. Excerpts from Oxfam India Survey 2017 published in The Indian Express, Tuesday, January 23,2018 , New Delhi Edition, Page No.19, 3. 'internet in India 2017' report published by Internet and Mobile Association of India (IAMAI) and KANTAR-IMRB., 4. United Nations (2012): "World Urbanization Prospects: The 2011 Revision," ST/ESA/SER.A/322, Department of Economic and Social Affairs, Population Division, New York., 5. 2018 Edelman Trust Barometer Global Report, published by Edelman., 6. The Global Talent Competitiveness Index, INSEAD (2018): published by 2018 by INSEAD, the Adecco Group, and Tata Communications, Fontainebleau, France.

डॉ. रोली रघुवंशी, असिस्टेंट प्रो. वाणिज्य विभाग, श्याम लाल कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, ई–मेल : roliraghuvanshi@gmail.com
डॉ. आदित्य पी. त्रिपाठी, असिस्टेंट प्रो. वाणिज्य विभाग, श्याम लाल कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय, ई–मेल : lkaditya1982@gmail.com

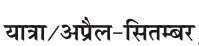

मीडिया के क्षेत्र में हिन्दी की भूमिका

संदीप तानाजी

आज 21 वीं सदी का युग पूर्णतः मीडिया का युग है। इसलिए मीडिया प्रजातंत्र का चौथा आधार स्तंभ बना हुआ है। इस आधार स्तंभ ने सांस्कणतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि गतिविधियों को गतिशील बनाने में अथवा सामाजिक परिवर्तन लाने का कार्य प्राचीन काल से किया है। यही मीडिया आज विभिन्न क्षेत्रों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा हैं। मीडिया को हम दो भागों में विभाजित करते है। प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया। प्रिंट मीडिया के अंतर्गत समाचारपत्र, पत्र पत्रिकाएँ, पोस्टर आदि आते हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के अंतर्गत रेडियो, दूरदर्शन, टेपरिकॉर्डर, संगणक, इंटरनेट आदि आते हैं।

आज का युग मीडिया का युग है। वर्तमान समय में सूचना के साधनों में अत्याधिक वृद्धि हुई है। इसलिए आज के युग के लिए 'सूचना प्रौद्योगिकी' कहा जाता है। सूचना और विचारों को पाठकों तक पहुँचाना यह मीडिया का उद्देश्य होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु मीडिया विभिन्न भाषाओं को अपनाता है। हिन्दी भाषा का प्रभाव भी इस क्षेत्र पर अधिक मात्रा में दिखाई देता है। क्योंकि हिन्दी आज केवल साहित्य तक सीमित न रहकर प्रशासन, पत्रकारिता, बैंक, विज्ञान, मीडिया आदि अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त हो रही है। हिन्दी जनता एक विशाल उपभोक्ता बाजार है, जिसके लिए हर मीडिया दौड़ रहा है। क्योंकि हिन्दी अब केवल भारत की नहीं बल्कि विश्व की भाषा बन चुकी है। इसे सम्पूर्ण दक्षिण एशिया की 'सम्पर्क भाषा' भी कह सकते है।

भूमंडलीकरण के युग में हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के विविध आयामों में व्यापकता के साथ-साथ गुणात्मकता भी आयी है। क्योंकि भूमंडलीकरण का युग वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रणाली का अधिक सहारा लेकर आगे बढ़ रहा है। वैसे में मीडिया ने भी हिन्दी भाषा को अपने संचार का महत्त्वपूर्ण साधन मान लिया है। इसी हेतु हिन्दी का विस्तार अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर तीव्रता से हो रहा है। हिन्दी एकमात्र भारतीय भाषा है, जो भारतीय संस्कृति का राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर निर्वहन करने में समर्थ हुई हैं। हिन्दी भारत के अतिरिक्त अमरीका, मॉरिशस, ब्रिटेन,

फिजी, सूरीनामा, जर्मनी, कॅनडा, रूस, स्वीडन, गयाना, त्रिनीदाद, हंगेरी, टोबैको, पोलैण्ड, चीन, नेपाल, श्रीलंका, इटली, वर्मा, बल्गेरिया आदि तथा इससे भी अधिक देशों में 125 से अधिक विश्वविद्यालयों में विधिवत रूप में पढाई जा रही हैं। अब हिन्दी केवल साहित्य की भाषा नहीं रही, बल्कि सूचना और प्रौद्योगिकी की मांग के अनुसार हिन्दी ने अपने आप को मीडिया के क्षेत्र में भी ढाला है। वैश्वीकरण के युग में सूचना और प्रौद्योगिकी को अधिक महत्त्व दिया जाता है, ऐसे में वही भाषा जीवित एवं सार्थक है जो सूचना और प्रौद्योगिकी एवं वर्तमानकालिक मांगों के अनुरूप स्वयं को परिवर्तित करने में समर्थ हैं। यह सभी गुण हिन्दी में पाए जाते हैं।

आज 21 वीं सदी का युग पूर्णत: मीडिया का युग है। इसलिए मीडिया प्रजातंत्र का चौथा आधार स्तंभ बना हुआ है। इस आधार स्तंभ ने सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि गतिविधियों को गतिशील बनाने में अथवा सामाजिक परिवर्तन लाने का कार्य प्राचीन काल से किया है। यही मीडिया आज विभिन्न क्षेत्रों में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा हैं। मीडिया को हम दो भागों में विभाजित करते है। प्रिंट मीडिया और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया। प्रिंट मीडिया के अंतर्गत समाचारपत्र, पत्र-पत्रिकाएँ, पोस्टर आदि आते हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के अंतर्गत रेडियो, दूरदर्शन, टेपरिकॉर्डर, संगणक, इंटरनेट आदि आते हैं।

विज्ञान प्रतिदिन विकास पा रहा है। विज्ञान के साथ-साथ मीडिया के क्षेत्र में क्रान्ति आ रही है। मीडिया में मनुष्य की उपलब्धियाँ-सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक, कायिक, वैज्ञानिक, औद्योगिक, व्यावहारिक, शैक्षिक तथा अध्यात्मिक के मूल्यांकन की होड है। जिसमें भाषा का अमूल्य योगदान है। आमतौर पर अंग्रेजी भाषा को ही मीडिया की भाषा मान लिया जाता है, किंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। क्योंकि भारत में अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के अभाव में ज्ञान-विज्ञान की यह जानकारी जनसामान्य के लिए सहज सुलभ नहीं है। इसलिए मीडिया ने अपने लिए हिन्दी भाषा को चुना। ज्यों देश-विदेश के लोगों के पास आसानी से पहुँच सके। हिन्दी ने भी मीडिया के क्षेत्र में आकर अपनी ओर से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जैसे-

1. पत्र-पत्रिकाएँ और हिन्दी-

साहित्य 'स्वान्त सुखाय' भले ही हो, लेकिन पत्रकारिता 'स्वान्त सुखाय' नहीं है। वह मुख्यत: जनहिताय होती है। हिन्दी की प्रारम्भिक साहित्यिक पत्रकारिता ने यही भूमिका निभाई है। भारत में सन 1557 ई. में मुद्रण प्रणाली को शुरूवात हुई। उसमें सन 1774 ई. में 'इण्डिया गजट' कलकत्ता से प्रकाशित किया गया। 29 जनवरी 1780 में भारत के पहले समाचार पत्र 'बंगाल गजट' की शुरूवात हुई थी। इसका श्रेय जेम्स आगस्ट हिक्की को दिया जाता है। हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' 30 मई 1826 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद बंगदूत, भारतमित्र, बनारस अखबार, कविवचन सुधा, सरस्वती, हंस, प्रतीक, कल्पना, कहानी, नयी कविता, धर्मयुग, सारिका, कादम्बिनी, नवनीत, आलोचना, साहित्य, मधुमती, हिन्दी प्रदीप, हिन्दुस्तान, ब्राह्मण, प्रताप, मर्यादा आदि या उससे भी अधिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। हिन्दी पत्रकारिता में प्रारंभ से आज तक विभिन्न प्रकार के बदलाव आये हैं, जिसमें पत्रकारोंने देश को अंग्रेजों के चुंगल से मुक्त करना,

राष्ट्रीय अस्मिता का बोध कराना, घर-घर में राष्ट्रभक्ति की लहर जगाना, राष्ट्रभाषा को प्राजंल रूप देने के महन्त कार्य में योगदान देना आदि राष्ट्र सेवा के उद्देश्यों को अपने समुख रखा था। इन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए पत्रकारोंने अपनी पत्रिकाओं के लिए हिन्दी भाषा का सहारा अधिक मात्रा में लिया हैं -

2. समाचार पत्र और हिन्दी-

समाचार पत्र समाज का दर्पण होता है। जिसके द्वारा विश्व, राष्ट्र, समाज एवं समाज के वर्ग एक-दूसरों को पहचान पाने में सफल हो रहे हैं। समाचार पत्र समाज का सेवक है। जो लोकचेतना को जागण्त करता हुआ अपना दायित्व निभाता है। समाचार पत्र मानव के लिए रोजमर्रा जीवन का

संचार के माध्यमों में दूरदर्शन का सर्वप्रथम प्रयोग 1884 में हुआ था। इसके पश्चात् अमरिका, फ्रांस, रूस में दूरदर्शन को एक सीमित दायरे में प्रसारण के लिए प्रयोग रूप में प्रारम्भ किया गया। विश्व में सर्वप्रथम 1920 में बोलते चित्रों का सफल प्रयोग किया गया। भारत में सन 1936 में UNESCO की एक बैठक के दौरान देश के ग्रामीण क्षेत्रों के कार्यक्रमों के प्रसारण के लिए दूरदर्शन की उपयोगिता पर बल दिया गया। भारत में 15 सितम्बर 1959 को दूरदर्शन का आरंभ हुआ। दूरदर्शन का आरंभ वस्तुतः शिक्षा एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए हुआ है। आज यह दूरदर्शन हमारे देश का सबसे विस्तृत और प्रभावशाली संचार माध्यम है। इसने देश के कोने-कोने तक हिन्दी के रूप को पहुँचाया है।

एक अपरिहार्य अंग बन गया है। क्योंकि समाचार किसी एक विषय को लेकर नहीं चलते, बल्कि उसमें हजारों बाजारों विषयों का पर्दापाश करता होता है। समाचार पत्रों के विषय में वर्तमान घटना, विज्ञान, आलोचना, राजनीति, साहित्य, पुरातत्व, धार्मिकता, सामाजिकता आदि सर्वव्यापक विषयों को लेकर चर्चा होती है। समाचार पत्र जनमत तैयार करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। अग्रलेखों, साक्षात्कारों, पाठकों, परिचर्चाओं के पत्रों एवं विभिन्न स्तंभों के द्वारा वह जनता को जानकारी देकर उनके ज्ञान में वृद्धि करता है। समाचार में सबसे अधिक लोकहित की भावना होती है। उसी के साथ दैनिक पत्रों में आनेवाले हास्य-व्यंग्य, कथाएँ, खेल, समाचार, फिल्म से संबंधित बातें आदि से समाज का मनोरंजन होता है। भारत में नवभारत टाईम्स, इंडियन एक्सप्रेस, द हिन्दू दर्पण, उदन्त मार्तण्ड, दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर, आज का आनंद जैसे समाचार पत्रों ने अपने सकारात्मक बल पर मीडिया और समाज की अस्मिता और विश्वास को बनाएँ रखा है। महंगाई, किसानों की आत्महत्याएँ, आतंकवाद, भ्रष्टाचार, राजनेताओं की बिगड़ी छवि जैसे विषयों के समाचारों को हाशिये पर स्थान दिया जाता है।

3. विज्ञापन और हिन्दी-

विज्ञापन आज के समय की एक आवश्यक मांग है। विज्ञापन यह अंग्रेजी के 'एडवरटाइजमेंट' शब्द का अनुवाद है। जिसका अर्थ है, किसी वस्तु के, बारे में विशेष रूप से जानकारी देना। आधुनिक जगत में विज्ञापन एक संतुलित लाभप्रद कार्य करता है। यह उत्पादक, निर्माता तथा उपभोक्ता को लाभ पहुँचाता है। वस्तु निर्माता यह जानता है कि इतने अधिक व्यक्तियों के पास पहुँचने का सबसे सरल मार्ग विज्ञापन का है। समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, दूरदर्शन, रेडियो आदि विज्ञापन के मुख्य साधन है। समाचार पत्र विज्ञापन का सशक्त माध्यम है। उसी तरह दूरदर्शन श्रव्य एवं दृश्य माध्यम होने के नाते दर्शकों के मन पर अधिक प्रभाव डालते हैं। हिन्दी विज्ञापनों में कहीं-कहीं विशेष वाक्य मिल जाते हैं, जैसे- ऊँचे लोग, ऊँची पसंद' या 'अंदर की बात है' आदि। विज्ञापन के बिना मीडिया के अस्तित्व की कल्पना आज असंभव है। अत: हम कह सकते है कि मीडिया में हिन्दी के शब्दों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

4. रेडियो और हिन्दी -

संचार के रूप में रेडियो तकनीकी का जन्म 1896 में जी. मार्कोनी द्वारा वायरलेस टेलीग्राफी के अविष्कार के साथ हुआ। वर्ष 1922 में ब्रिटेन में ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कम्पनी की स्थापना के पश्चात् भारत में सबसे पहला रेडियो स्टेशन कलकत्ता में 1923 में स्थापित हुआ। व्यावसायिक स्तर पर रेडियो स्टेशन की स्थापना देश में 1927 को प्रारंभ हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सरकारी रेडियो प्रसारण सेवा का नाम 'आकाशवाणी' रखा गया। जहाँ दूरदर्शन की सेवाएँ उपलब्ध नहीं है, वहाँ रेडियो का महत्त्व है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक पत्रिका समीक्षा एवं अन्य सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि जिनका प्रसारण दूरदर्शन पर नहीं किया जाता उसे रेडियो प्रस्तुत करता है। हमारे देश के कई ऐसे भाग है, जहाँ रेडियो की अभी भी बहुत बड़ी उपयोगिता है। लोकप्रियता के दौर में रेडियो जैसे श्रव्य माध्यम से हिन्दी भाषा का बहुत बड़ा काम हो रहा है। शहरी क्षेत्र और कुछ एक प्रतिशत पढे लिखे लोगों को छोड़ कर तो 99 प्रतिशत जनता रेडियो का हिन्दी कार्यक्रम सुनते है या मनोरंजन या गाने सुनकर संतुष्ट होती है।

5. दूरदर्शन और हिन्दी -

संचार के माध्यमों में दूरदर्शन का सर्वप्रथम प्रयोग 1884 में हुआ था। इसके पश्चात् अमरीका, फ्रांस, रूस में दूरदर्शन को एक सीमित दायरे में प्रसारण के लिए प्रयोग रूप में प्रारम्भ किया गया। विश्व में सर्वप्रथम 1920 में बोलते चित्रों का सफल प्रयोग किया गया। भारत में सन 1936 में UNESCO की एक बैठक के दौरान देश के ग्रामीण क्षेत्रों के कार्यक्रमों के प्रसारण के लिए दूरदर्शन की उपयोगिता पर बल दिया गया। भारत में 15 सितम्बर 1959 को दूरदर्शन का आरंभ हुआ। दूरदर्शन का आरंभ वस्तुत: शिक्षा एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए हुआ है। आज यह दूरदर्शन हमारे देश का सबसे विस्तृत और प्रभावशाली संचार माध्यम है। इसने देश के कोने-कोने

तक हिन्दी के रूप को पहुँचाया है। दूरदर्शन में प्रयुक्त हिन्दी प्रयोजनमूलक होती है। दूरदर्शन में हम प्रसिद्ध क्रीडा क्षेत्र की राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय घटनाएँ, सेमिनार आदि का आँखों देखा हाल की विशेष अपेक्षा रखते हैं। कॉमेन्ट्री प्रसारण करना इसकी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। इसमें ध्वनि, संगीत, लय की विशेष भूमिका के साथ व्याकरण भी होता है। घटना केंद्र, संवाद, नाम, तथ्य, आँकड़े, उद्धारण, तात्कालिक सोच इस प्रसारण की सबसे बड़ी विशेषता है। रामायण, महाभारत, श्रीकृष्ण, बाइबल एवं अन्य धर्मों के धारावाहिकों ने दूरदर्शन पर हिन्दी को बहुत व्यापकता प्रदान की है। इस कारण दूरदर्शन प्रतिदिन हिन्दी के साथ जुड़ता जा रहा है।

6. फिल्म और हिन्दी-

भारत में फिल्म के इतिहास को अब 100 साल से भी अधिक समय हो गया है। 7 जुलाई 1896 में फ्रांस निवासी ल्यूमिनर बंधुओं ने पहली बार मुंबई में गतिशील चित्रों का प्रदर्शन किया था। पर हम भारतीय फिल्म के पितामह के रूप में दादासाहेब फालके जी को देखते है। क्योंकि की उन्होंने स्थिर छायांकन और वृत्तचित्र से कई कदम आगे बढ़ाकर एक मूक फिल्म बनवायी जो 'राजा हरिश्चंद्र' के नाम से 21 अप्रैल 1913 को मुंबई में ओलंपिया सिनेमा हाल में प्रदर्शित हुई। बाद में पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' 14 मार्च 1931 को मुंबई के मॅजेस्टिक सिनेमा हाल में प्रदर्शित हुई। इस तरह हिदुस्तान में फिल्मों ने करीब 35 वर्षों के लम्बे संघर्ष के पश्चात् ठीक चलना, फिरना और बोलना शुरू किया।

हिन्दी और हिन्दी फिल्म एक-दूसरे के पर्याय बन गये है। फिल्म के क्षेत्र में हिन्दी को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला है। आज भारत में लगभग प्रतिवर्ष 800 फिल्मों का निर्माण होता हैं। उसमें से लगभग 160.170 फिल्में हिन्दी में बनती हैं। विदेशों में भी हिन्दी फिल्मों के दर्शक की संख्या बड़ी है। विदेशों के कई प्रतिभावान फिल्मकार एवं कलाकार हिन्दी फिल्मों में आये हैं। बस इतना ही नहीं, बल्कि भारतीय मूल के विदेशी कलाकार धन, यश के साथ सफलता की बुलंदियों पर नजर आते हैं। हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता का पता इसीसे लगाया जा सकता है कि अच्छी फिल्में भारत सहित विश्व के 22 देशों के थियटर्स, मल्टीप्लेक्स में एक साथ रिलीज होती हैं। आज भारत का फिल्म उद्योग अपने चरम सीमा पर है, जिसमें लाखों लोगों को अप्रत्यक्ष रूप में रोजगार प्राप्त होते हैं।

7. संगणक और हिन्दी-

आज के विश्व को संगणक का विश्व कह सकते है, क्योंकि हमारे जीवन का हर एक क्षेत्र संगणक से प्रभावित है। इस संगणक शब्द की व्युत्तप्ति अंग्रेजी शब्द 'कम्प्युट' से हुई है। जिसका अर्थ है, गणना। लेकिन संगणक केवल गणना नहीं करता था अपितु सूचनाओं और निर्देशों के आधारपर मनुष्य के प्रत्येक क्षेत्र में सहायता प्रदान करता था। संगणक मानव मस्तिष्क का मशीनी प्रतिरूप है, ज्यों सूचनाओं और निर्देशों को त्वरित गति से भेजता है। संगणक का अविष्कार

विदेश में हुआ है। भारत में इसे आयात किया गया है। प्रारंभ में संगणक में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से कार्य किया जाता था। लेकिन गत दशक में संगणक के कदम हिन्दीकरण के ओर आगे बढ, रहे है। सरकारी, गैरसरकारी, निजी संस्थाओं के साथ-साथ शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी संगणक की कार्य प्रणाली को आसानी से देखा जा सकता है।

संगणक पर हिन्दी भाषा ध्वनि, चित्र, एनिमेशन के सहारे विकसित की जा रही है। व्यापारियों, उद्योगपतियों, अर्थशास्त्रियों, अधिकारी वर्ग, बौद्धिक वर्ग और बीमा कम्पनी, बैंक, वित्त निगम, मनोरंजन, उद्योग, वस्तु आदि के मार्केटिंग के लिए हिन्दी प्रमुख भूमिका निभा रहा है। प्रकाशन जगत में भी हिन्दी की सबसे बड़ी उपलब्धि डी.टी.पी. अथवा डेस्क टॉप प्रकाशन है। हिन्दी समाचार पत्रों की बढ़ती मांग को देखकर भारत में पहला ई-मेल अखबार शुरू किया गया। सूचना प्रौद्योगिकी के बदलते परिवेश में हिन्दी भाषा ने अपना स्थान धीरे-धीरे प्राप्त कर लिया है। संगणक और इंटरनेट की प्रणाली से हम विभिन्न वेबसाईट देखकर शिक्षा, विधि, पुरातत्त्व, राजनीति, पर्यटन, मीडिया, भाषा, साहित्य, स्वास्थ्य, तंत्रज्ञान आदि क्षेत्र की जानकारी हिन्दी में प्राप्त कर सकते है।

निष्कर्ष -

मीडिया के अंतर्गत समाचार पत्र, पत्र-पत्रिकाएँ, विज्ञापन, रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म, संगणक एवं इंटरनेट आदि साधन आते हैं। जो जन-जन तक सूचनाएँ सुविधापूर्वक पहुँचाने में सर्वाधिक सफल हुए हैं। उक्त सभी माध्यमों का अपना-अपना विशिष्ट क्षेत्र है। इन माध्यमों ने अपने प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी भाषा को चुना है। क्योंकि हिन्दी ने जनभाषा, सम्पर्क भाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, विज्ञापन भाषा, स्वभाषा, विश्वभाषा एवं मीडिया भाषा जैसे अनेकानेक रूपों को अपने भीतर संजोया हैं। उसी के साथ हिन्दी अपने ज्ञान एवं विशेषज्ञता से हमें एक विशाल जगत से हमारा परिचय करवाती है।

संदर्भ ग्रंथ-

1. हिन्दी भाषा, लिपि व साहित्य . डॉ.बलभीमराज गोरे, विकास प्रकाशन, कानपुर.1999, 2. जनसंचार, जनसंपर्क एवं विज्ञापन . डॉ. सुजाता वर्मा, जी.पी.वर्मा, ज्ञानोदय प्रकाशन, कानपुर.2007, 3. प्रिंट मीडिया . रूपचंद गौतम, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली.2008, 4. रोजगाराभिमुख हिन्दी . डॉ. सुभाष तहेकर, संदानंद, नंदादीप प्रकाशन, पुणे.2010, 5. मीडिया और हिन्दी . डॉ.पंडित बन्ने, अमन प्रकाशन, कानपुर.2011, 6. 'केरल ज्योति' द्वैमासिक . फरवरी.2012, 7. जनसंचार माध्यमों में हिन्दी . डॉ.चन्द्र कुमार, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, 8. वैश्विकता के संदर्भ में हिन्दी . डॉ. शैलजा पाटील, शुभम पब्लिकेशन्स, कानपुर

संदीप तानाजी, कदम भवानीनगर, तहसील–वालवा, जिला–सांगली
पिन–415302 (महाराष्ट्र)

नैतिकता और आध्यात्मिकता के पैरोकार कबीर

मनजीत कौर

सन्तों की नैतिक भावना सदाचार का संदेश देती है और सदाचार का सम्प्रेषण भी करती है। नैतिक और अधयात्म का संबंधा बहुत गहरा देखने को मिलता है सन्त साहित्य में। अधयात्म ही सन्त साहित्य का प्रधान गुण माना गया है। सन्तों का मत, सन्तों का कर्म, सन्तों का धार्म आधयात्मिक चेतना से ही जुड़ा हुआ है और वह इसी को आधाार मानते हुए अपनी वाणी को आमजन के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अधयात्म साधाना के अन्तर्गत ही भद्रि का उल्लेख भी देखने को मिलता है।

मध्यकालीन सन्त साहित्य का मूल स्वर शिष्टाचार, परिष्कृत, परिशोधान, मानसिक निर्मलता है। आन्तरिक शुचिता को धयान में रखते हुए ही सारा का सारा सन्त साहित्य रचा गया। सन्तों ने अपने हृदय की साधु-सहज सच्चाई को सम्प्रेषित/अभिव्यद्र करने के लिए नैतिकता और आधयात्मिकता का सहारा लिया। उनका दृढ़ विश्वास था कि कायिक और मानसिक शु)ता के बिना आधयात्मिक भाव सम्भव नहीं, ईश्वर मिलन सम्भव नहीं है। जब तक हमारा तन और मन पूरी तरह से निर्मल नहीं हो जाता, तब तक प्रभु से साक्षात्कार असंभव ही होगा। सन्तगण भक्त थे और वो भी ज्ञानवान-विवेकी भद्र थे। इसलिए उन्होंने बाह्य साधाना के बजाय आन्तरिक साधाना पर जोर दिया। आन्तरिक साधाना का सम्बन्धा नैतिकता से सम्बन्धित है। नैतिकता हमारी कोई सभ्यता नहीं, बल्कि यह तो हमारी अन्तस: चेतना का मर्म है जो हमें अच्छे-बुरे का अन्तर बताती है।

नैतिक शब्द 'नीति' में त)ित का इक् प्रत्यय लगने से निर्मित होता है। जिसका अर्थ है नीति सम्बन्धाी तथ्य। इसी प्रकार 'नीति शास्त्र' से जुड़े हुए समस्त प्रकल्पों से नैतिक शब्द ताल्लुक रखता है। विद्वानों ने अंग्रेजी के 'एथिक्स' को 'नीति' का पर्यायवाची माना है। यह 'एथिक्स' शब्द यूनानी के 'टाएथिका' शब्द से बना हुआ है। जिसका तात्पर्य चरित्र होता है। टॉलस्टॉय ने नैतिक को सौंदर्य या इरथेटिक से जोड़ने की कोशिश की है।

नैतिकता क्या है, का निर्णय कोई कलाकृति नहीं, बल्कि एक गहरी धाार्मिक आस्था से उत्पक मूल्य-चेतना ही करती है?शुक्रनीति में नीति को धार्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्रदान करने वाला बताया है। प्रसि) आलोचक रामचन्द्र वर्मा मानते हैं कि वह रीति जिस पर चलने से अपना कल्याण तो हो, पर दूसरों की हानि न हो, वह नीति है।[1] आगे पाश्चात्य विद्वान मैकेंजी ने लिखा है कि नीतिशास्त्र मनुष्यों की आदतों और रूढ़ियों का अथवा दूसरे शब्दों में उनके चरित्रें का अर्थात् जिस सि)ान्तों के अनुसार काम करते रहने की, उनकी आदतें बन जाती हैं, उनका विवेचन करता है तथा यह विचार करता है कि वे कौन-सी बातें हैं जो उन सि)ांतों को उचित या अनुचित बनाती है।ह्[2]

सन्तों की नैतिक भावना सदाचार का संदेश देती है और सदाचार का सम्प्रेषण भी करती है। नैतिक और अधयात्म का संबंधा बहुत गहरा देखने को मिलता है सन्त साहित्य में। अधयात्म ही सन्त साहित्य का प्रधान गुण माना गया है। सन्तों का मत, सन्तों का कर्म, सन्तों का धार्म आधयात्मिक चेतना से ही जुड़ा हुआ है और वह इसी को आधाार मानते हुए अपनी वाणी को आमजन के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अधयात्म साधाना के अन्तर्गत ही भद्रि का उल्लेख भी देखने को मिलता है। अधयात्म के चार पुरुषार्थ भारतीय दर्शन में देखने को मिलते हैं धार्म, अर्थ, काम, मोक्ष। आधयात्मवाद को हम उस रूप में जानते हैं कि जो हमें यह विश्वास दिलाता है कि जगत् एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था भी है जो हमें हमारी आशाओं के अनुरूप जीने के लिए सुविधाा उपलब्धा कराती है। साथ ही, आधयात्मिकता का सीधाा सम्बन्धा है कि जब हम कोई सकारात्मक परिवर्तन करने का प्रयास करते हैं तो वह भी एक प्रकार से हमारी आधयात्मिकता ही कहलाती है।

सन्त साहित्य में नैतिकता और आधयात्मिकता के सबसे सशद्र हस्ताक्षर अगर कोई माने जाते हैं तो वह है, कबीर और गुरुनानक। कबीर नैतिकता को किस तरह आधयात्म के अन्दर की वस्तु मानते हैं ये आगे की पंद्रियों में देखने को मिलेगा। कबीर कहते हैं कि अगर परमात्मा को जानना है तो अपने भीतर के अन्तस् को जानना अति आवश्यक है, बिना अन्तस् के जाने हमें परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती है। हमारे अन्दर के विकारों, मेल, कड़वाहट, अहंकार, क्रोधा और अज्ञानता रूपी मेल को जब तक बाहर नहीं निकालेंगे, तब तक आधयात्मिकता की अनुभूति हो ही नहीं सकती। कबीर कहते हैं -

ह्हृदय कपट मुख ग्यानि, झूठे कहा विलोबस पानी।
कायां माजसि कउन गुणा, जिउ घट भीतरि है मलना।।ह्[3]

सन्तों की नैतिक भावना आचरिक एवं मानसिक शु) की शिक्षा देना अपना नैतिक कर्त्तव्य मानती है उनकी नैतिक भावना एक अन्तस् से प्रस्फुटित हुआ मूल्य है। इनकी मंगलकारी भावना एक ऐसे समाज का निर्माण रचने के लिए प्रवृत्त होती है जो मन और तन से, आचार और विचार, गुण-दोष से सर्वथा परे हो, निर्मल हो। सन्तों की नैतिक भावना के रूप में उन्होंने दान, दया, अहिंसा, सत्संग, पवित्रता, परोपकार, अपरिग्रह, क्षमा, अशौच, अस्तेय, निन्दा-त्याग आदि देखने को मिलते हैं।

गुरुनानक ने उसी को सच्चा दिगम्बर माना है, जो अहंकार रहित हो और मन से पूरी तरह अभिमान रहित हो, वही एक सच्चा काजी होता है। वे मानते हैं कि अहंकार से कोई भी काम नहीं होता है। नानक की इन पंक्तियों के माधयम से भी समझ सकते हैं कि किस तरह गुमान करने वाले व्यद्रियों की क्या दशा होती है -

ह्दया दिगंबरु देह बिचारी।

आपि मरै अवरा नह मारी।।ह्

मानवीय समाज में धार्म का बड़ा महत्त्व है, और धार्म हम उन नियमों और आचरणों को कहते हैं जिनके पालन से व्यद्रि और समाज दोनों का भला हो, कल्याण और एक-दूसरे के प्रति समरसता की भावना का वर्चस्व बढ़े। और यही कल्याण की भावना एक-दूसरे को ईश्वर की भद्रि की ओर उन्मुख करती है। कबीर ने आधयात्मिक प्राप्ति को 'चउथे पद' का नाम दिया। संसार में व्याप्त तीन गुण-सत्य, रज और तम इन सबसे उपर उठकर ही ईश्वर प्राप्ति की कामना पूर्ण हो सकती है अन्यथा नहीं। कबीर इन तीन गुणों को परमात्मा की रची हुई माया बताते हैं और कहते हैं-

ह्रज गुण, तम गुण, सत गुण कहीये इहि सब तेरी माया।
चउथे पद कउ जो नर चीन्हे तिन री परम पद पाया।ह्[5]

सन्त साहित्य में सन्तों ने चिंता को बड़ा ही कष्टकारक माना है यह चिन्ता चाहे गृहस्थ की हो या संन्यासी स्थिति बड़ी ही कष्टकारक होती है। इसलिए कबीर कहते हैं कि इन्सान स्वयं की चिंता त्याग देता है तो गुरुदेव उनकी चिंता करने लगते हैं। कबीर की वाणी में सत्संगी का बहुत ही बड़ा महत्त्व बताया गया है। वह कहते हैं कि बु()मान व्यद्रि के संग रहने से उसकी मित्रा का मूल्य का पता चलता है और वह बड़े-बड़े मुश्किलों में भी मित्रा का अपना रंग नहीं छोड़ती है। कबीर कहते हैं कि एक नैतिक चरित्र होता है जो जीव हिंसा से बिल्कुल अलग रहे, ऐसा करने वालों को कबीर जी विधार्मी बताते हैं। वो मानते हैं कि नैतिक रूप से वही इन्सान आधयात्मिक की और उन्मुख होगा जब वह इन सब झंझालों से परे होकर अपना धयान ईश्वरीय भद्रि की ओर देगा। सन्त दादूदयाल भी यही मानते हैं कि जो जीव-हत्या करता है वह नरक का भागी होता है। वह कहते हैं कि जीव-वधा के स्थान पर जीवन की रक्षा करने वाला हो तो वहीं व्यद्रि नैतिक रूप से सच्चा और अच्छा आचरण से भरपूर्ण व्यद्रित्व माना जाता है। कबीर इन पंद्रियों में कहते हैं -

ह्जन मांस नर की तस मांस पशु की,
रुधिार-रुधिार इक सारा जी।।ह्[6]

कबीर प्रेम को सर्वोच्च मानते हैं। वह कहते हैं प्रेमा भद्रि ही नैतिकता की प्रति है और इसी नैतिकता के बल पर आधयात्मिकता की अनुभूति की प्राप्ति होती है। प्रेमाभद्रि में न कोई दिखावा, न कोई आडम्बर और न ही कोई किसी प्रकार का कष्ट। नैतिकता का संकल्प मनुष्य के स्वयं से बढ़कर समाजहित और परहित में अपनी सार्थकता प्राप्त करता है। मनुष्यता की नैतिकता

की परख उसके समाज के प्रति व्यवहार से प्राप्त होती है। दया रूपी ¤ल उसको कल्याणकारी बना देता है। सन्त दादूदयाल भी कहते हैं कि जहाँ दया होती है, वहीं धर्म की प्रतिष्ठा होती है। वो मानते हैं कि जो व्यद्रि दयाविरहित होता है, वह कुत्ते, काग औरश्रृंगाल की तरह छोटे दिन वाला होता है और जो मानवीय दया से परिपूर्ण होता है, उसे ही सच्ची अमरता की प्राप्ति होती है। इस सन्दर्भ में रविदास की बानियों के माधयम से समझ सकते हैं –

दया धार्म जिन्ह में नाहिं, हिरदै पाप की कीच।
रविदस तिन्हहि जानि हो, महा पातकी नीच।।[7]

नैतिकता एक मानवीय अन्तस् की अनुभूति है जो उसे कल्याणकारी और परोपकारी कार्य करने में प्रेरित करती है। इसी का प्रभाव होता है कि मनुष्य इस संसार में ¤र आधयात्मिक सम्मान प्राप्त करता है। जपुजी वाणी में गुरुनानक जी ने कहा है कि सारे गुण परमात्मा के हैं। परमात्मा की भद्रि गुणों को अपनाए बिना नहीं आ सकती या हो सकती। इन पंद्रियों के माधयम से समझ सकते हैं –

ह्सब गुण तेरे मैं नाहिं कोए।
बिन गुण कीते भगति न होंए।।ह्[8]

जप, तप, त्याग, आदर, मान, सम्मान ये सभी माया के अनुरूप है आकाश, जल, थल, पृथ्वी सभी में माया ¦ैली हुई है। हमारे मानवीय सम्बन्धों की निर्भरता भी माया के ही अनुरूप चलती है इनमें भी माया की ही व्याप्ति हैं –

कबीर की वाणी किसी एक अचल विशेष या क्षे¤ तक ही सीमित नहीं है बल्कि उसका विषय हर क्षे¤ में रहा है। वह ऊँचे दर्जे के भद्र कवि थे। उनके आधयात्मिक विचारों में भारतीय संस्कृति एवं विचारों का समावेश देखने को मिलता है। उनके विचार भारतीयता के अनुकूल थे। इसलिए कबीर को 'सारग्राही' भी कहा जाता है और इसी सारग्राहीता के कारण ही भारत के सही आधयात्मक मार्गों को स्वीकार किया है। योगाभ्यास, अनुग्रह सि)ांत, अद्वैमत, तांत्रि्क शरीर विज्ञान, प्राणायाम इन सभी का सार कबीर की वाणी में देखने को मिलता है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर का युग कोई एक धार्म या सम्प्रदाय का नहीं था उसमें विभिक धार्मों का सामंजस्य था। और इसी वजह से एक–दूसरे के बीच में आपसी वैमनस्यता भी बढ़ती जा रही थी, बल्कि इनके अलावा सभी धार्मों में कम अधिाक वैमनस्यता देखने को मिल रही थी। कबीर इस विषमता रूपी खाई को मिटाना चाहते थे और उसके लिए वो मानते थे कि एकता की अनुभूति होना बहुत ही आवश्यक है।

कबीर ने अनेक नामों में से एक नाम की ओर संकेत किया है, और वह है 'परमसत्य' ईश्वर। वह ईश्वर, ब्रह्म, निरंजन, राम आदि नामों कसे पुकारा गया जिसको कबीर ने 'परमसत्य' से तथा जिसको उपनिषदों एवं शंकर आदि ने आत्मा या ब्रह्मा माना है उसे ही कबीर इसी तरह से सम्बोधित करते हैं। उनकी दृष्टि में 'परमतत्व' ही आत्मा है और आत्मा ही 'परमतत्व' है। हालाँकि

परमतत्व को कबीर ने 'शून्य' भी कहा है। इसी संदर्भ को कबीर इन पंद्रियों के माधयम से कहता है-

हम सब माँहि सकल हम माँहि, हम यै और दूसरा नांहिं।
....., हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा।।
हमहीं आप कबीर कहावा हम ही अपना आप लखावा।।

कबीर जिस 'परमतत्त्व' को अपने शरीर में बताते हैं, उसी को वे सब जीवों/जगत् में भी देखते हैं। वे कहते हैं कि परमतत्त्व या जो शद्रि है वह शरीर के भीतर होती है न कि बाहर। हालाँकि उस बाहरी स्थिति में रखने वाले लोगों का कबीर किसी तरह कोई विरोधा नहीं करते हैं। इस ह्परमतत्त्वह् को कबीर सबसे श्रेष्ठ और शद्रिशाली मानते हैं। वह व्यापक और सर्वशद्रिमान है, वह सर्वव्यापी है। वह सबको देख सकता है लेकिन उसे कोई नहीं देख सकता है, वह परमसत्य है, उनकी शद्रि अद्भुत है। कबीर की इन पंद्रियों में इस पंद्रियों में इस प्रकार कहते हैं -

ह्वह मुख-बिना खा सकता है, चरण बिना चल सकता है
जिह्वा बिना बोल सकता है, स्थिर रहता हुआ भी भ्रमर कर सकता है
कर बिना तालि बजा सकता है और मंडल-बाजे के बिना
भी ताल पैदा कर सकता है।ह[10]

कबीर के इस परमतत्त्व का व्यावहारिक स्वरूप 'जीवात्मा' है। जीवात्मा और परम-तत्त्व द्धपरमात्माद्ध में कोई अन्तर नहीं मानता है। वह जगह-जगह कहते हैं कि परमात्मा सब में है और सब परमात्मा में है। वह इस जीवात्मा की दो कोटियाँ बताता है ज्ञानी और अज्ञानी। ज्ञानी शरीर में रहकर एक तरह से बंधान मुद्र ही रहता है वह परमात्मा से अभिक रहता है। जीव और ब्रह्म के बीच में अन्तर मानता है। जीवन को बंधान में ब्रह्म ने ही बनाया इसलिए जीव का अंश ब्रह्म से ही है न कि अलग से। ब्रह्म सहजस्वभाव है, जबकि जीव 'मिथ्यारत' है।

अधयात्म की भूमिका में 'माया' को भी मानते हैं और वह माया को 'महाठगिनी' या 'पापी' कहकर पुकारते हैं। माया ही एक ऐसा तत्त्व है जो सब जीवों को अपने में जकड़कर रखता है। लोभ, मोह, तृष्णा, असंतोष ये सभी माया के निकले हुए अंश है, जप, तप, त्याग, आदर, मान, सम्मान ये सभी माया के अनुरूप है। आकाश, जल, थल, पृथ्वी सभी में माया ैली हुई है। हमारे मानवीय सम्बंधाों की निर्भरता भी माया के ही अनुरूप चलती है। इनमें भी माया की ही व्याप्ति है-

ह्माया आदर माया मान, माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन।
माया रस माया कर जान, माया कारनि तजै परान।।
माया जप तप माया जो, माया बांधो सब ही लोग।
माया जलि थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहूँ पासिं।
माया माता माया पिता, अति माया अस्तुरी सुता।।ह[11]

सन्तों के दृष्टिकोण में प्रभु के अतिरिद्र कुछ और आधयात्मिक भाव नहीं रहता है और

रहता भी है तो सामाजिक समस्यायें, सोच विचार और उनके प्रति दृष्टिकोण। विनम्रता को मानव का सबसे बड़ा नैतिक गुण मानते है। और मानव चेतना को संसार में सबसे बड़ा भाव दया को ही बताया गया है। मलूकदास मानते है कि दया की भावना के कारण ही वाणी अमृतमय हो जाती है। कबीर प्रभु को सभी कसौटियों पर खरा उतरने वाला आधयात्मिक शद्रि के रूप में देखते है। और अपने ब्रह्म को औपनिषदिक ब्रह्म से अलग मानते है, वह प्रत्येक प्राणी में भी है और समस्त ब्रह्माण्ड में भी व्याप्त है। इसी कारण कबीर कीड़ी से कुंजर तक तथा हर उपेक्षित, उत्पीड़ित प्राणी के साथ होते है और इसी सरोार की वजह से वह विद्रोही भी है और क्रांतिकारी भी है। वह कहते है कि मनुष्य कीट-पतंगा, पशु-पक्षी ही नहीं पेड़-पौधो और ूल पत्तियों तक के लिए अति संवेदनशील प्राणी है, इन्हीं पंद्रियों में वे बताते हैं -

ह्भूली मालिन पाती तोड़े, पाती-पाती जीव।
जो मूरति कौं पाती तोड़े, सो मूरति निर्जीव ।।ह[12]

इतना ही नहीं, कबीर प्रत्येक पत्ती में भी जीव मानते हैं और मालिन को बोल रहे है कि निर्जीव मूर्तियों पर चढ़ाने के लिए जीवधाारी इन पंद्रियों को मत तोड़ों। कबीर और आगे बढ़कर पत्तियों सहित पूरे ूल-ल में त्रिमूर्ति ब्रह्म, विष्णु और महेश की उपस्थिति मानते हैं -

ह्पाति ब्रह्मा पुहपे, विष्णु, ूल-ल महादेव।
तीनी देवौ। एक मूरति, तूँ करै किसकी सेवा।।ह[13]

कबीर कहते हैं कि सभी धार्मों की सच्ची कसौटी मन की निर्मलता है, जो व्यद्रि को प्रभुता की ऊँचाईयों तक पहुँचा देती है। कबीर का ब्रह्म औपनिषद् ब्रह्म से अलग है। कबीर कहते हैं कि मनुष्य का मन गंगा के नीर की तरह निर्मल होना चाहिए। वह इन पंद्रियों के माधयम से इस प्रकार बताना चाह रहे हैं -

ह्कबीर मन निर्मल भईया जैसा गंगा नीर।
चाहै लागौ हरि रि कहत कबीर-कबीर।।ह

कबीर का दर्शन आत्मदर्शन है और यह सहज दर्शन है। इसी को कबीर ने आत्म-विचारणा भी कहा है। वह कहते हैं कि आत्मदर्शन के अलावा इस संसार में जितने भी दर्शन है वह सब दु:खों का रूप है, क्लेश का कारण है, पाखंड है। वह इन पंद्रियों में कहते हैं कि आनंद का उत्सव ही यह आत्मविचारणा है - 'आपहि आप विचारये तब केता होय आनंद रे।' यह आत्मदर्शन चेतना ही मानव को सच्ची आधयात्मिकता की अनुभूति कराती है। आत्मदर्शन के अलावा बाकी सब पाखंड और अंधाविश्वास है। कबीर विश्व-धार्म-मानवता के सच्चे सेवक थे और सच्चा धार्मिक कभी सम्प्रदायवादी नहीं हो सकता है। कबीर ज्ञान-भद्रि, वैराग्य, वितृष्णा, समाजसेवक, सामाजिक समरसता, मानवीय एकता और मानव धार्म को मानने वाले सच्चे मानव प्रेरक थे। वह हिन्दू-मुसलमान दोनों को ही ट्कारते थे कि तुम जिस राम-रहीम के लिए लड़ते हो वो अलग-अलग नहीं वह तो एक ही है रूप अलग-अलग है।

निष्कर्ष रूप से कहा जाता है कि कबीर ज्ञानी-भद्र थे। कबीर कहते है कि भद्र को परमात्मा से अपनी आत्मीयता का सम्बन्धा अपने स्वभाव के अनुसार जोड़ना पड़ता है। वह मूलत: अधयात्म पुरुष थे और वह समाज में समरस मूल्यों को स्थापित करने में नैतिकता जैसे जीवन-मूल्यों को सर्वोच्च स्थान पर रखते थे। वह तत्व-चिंतक, कवि, समाज-सुधाारक पहले माने जाते हैं। वह सभी धार्मों के सच्च आधयात्मिक पुरुष थे। उन्होंने इस प्रकृति में सर्वव्याप्त परम-आत्मचेतना को आधाार बनाकर सम्पूर्ण विश्व को निर्भयता का संदेश दिया। वह कवि बाद में और समाज-सुधाारक पहले थे। इसी निर्मल स्वभाव के आधाार पर ही एक भद्र को ईश्वर की प्राप्ति/साक्धिय संभव है अन्यथा असंभव। वह बोलते थे कि जो इस संसार की वास्तविक झगड़े की जड़ सांसारिक भौतिकता है और यह आपसी वैमनस्य तभी दूर हो सकती है कि जब मनुष्य धाार्मिक पाखण्डों, सम्प्रदायों, वैमनस्यों, जातिवाद और ऊँच-नीच को भुला कर सभी को आत्मीय माने, सबकी वेदना को आत्म-साक्षात्कार करे, उसके हृदय में परदुखकातर की भावना स्वयं में उत्पक हो तभी यह झगड़ा मिट सकता है वरना नहीं। और ये सारे प्रपंच आज भी हमारे समाज में पूर्ण रूप से विद्यमान है, इसलिए कबीर आज भी प्रासंगिक बने हुए है।

कबीर कहते है कि मानव ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ निर्मित रचना है। उसे अपनी नैतिकता, संवेदनशीलता और आधयात्मिकता को अपने आचरण से सि) करना चाहिए। मातृभाव, पितृभाव, जीव, दया, आत्मीयता, समानता की नई धाारा अपने हृदय में प्रस्फुटित करनी चाहिए जब ही जाकर हम मानवता की मनुष्यता को बचा पायेंगे अन्यथा नहीं। कबीर ने समाज में आई कुरीतियों, अंधाविश्वासों, क्रूरता को एक नई आधयात्मिक दृष्टि से देखा। मनुष्य को अपने सच्चे दृष्टिकोण से आत्मवान और संवेदनशील बनाया। इसलिए कबीर सच्चे अर्थों में आधयात्मिक और नैतिकता जैसे गुणों से ही ओत-प्रोत नहीं, बल्कि वे एक सम्पूर्ण मानवता के मसीहा भी थे। कबीर कहते है कि समाज में समरसता लानी है तो नैतिक मूल्यों और आधयात्मिक चिंतन को आत्मसात् किए बिना समरसता असंभव है। इसलिए कबीर आज भी हमारे समाज में महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरणादायक ही नहीं, बल्कि प्रासंगिक भी बने हुए है।

सन्दर्भ :

1. प्रामाणिक हिन्दी कोश, सम्पा, रामचन्द्र वर्मा, पृङ्ख 711, 2., नीति प्रवेशिका, मैकेंजी के मैनुअल ऑफ एथिक्स का अनुवाद, पृङ्ख 13, 3. आदिग्रंथ, अनुङ्ख प्रोङ्ख साहिब सिंह सैंची, पृङ्ख 518, 4. गुरुनानक, सङ्ख महीप सिंह, पृङ्ख 76, . आदि ग्रंथ, अनुङ्ख प्रोङ्ख साहिब सिंह सैंची, पृङ्ख 40, 6. कबीर बीजक, सबद, पृङ्ख 55, 7. रविदास-दर्शन, पृथ्वी सिंह आजाद, पृङ्ख 51, 8. आदिग्रंथ, अनुङ्ख प्रोङ्ख साहिब सिंह सैंची, पृङ्ख 515, 9. कबीर ग्रंथावली, पृङ्ख 201-332, 10. कबीर ग्रंथावली, पृङ्ख 140-159, तुङ्खकीङ्ख, श्वेताङ्खउपङ्ख 3.19, 11. कबीर ग्रंथावली, पृङ्ख 211-369, पंङ्ख 3, 12. कबीर : एक पुनर्मूल्यांकन, सम्पाङ्ख बलदेव वंशी ङ्खकबीर वाणी का मूल आधाार : अधयात्म चेतना नामक लेख, सेङ्ख, पृङ्ख 249, 13. वही, पृङ्ख 249

मनजीत कौर, पी०एच०डी० हिन्दी विभाग, शोधार्थी – राजस्थान विश्वविद्यालय,
ई–मेल – majeetkaurktp@gmail.com

आइए निकलें 'डकैत चूहों' के सामूहिक शिकार पर!

पंकज स्वामी

'डकैत चूहे' को हम जनवादी प्रस्तुति भी कह सकते हैं। नाटक प्रस्तुति विकास के साथ समाज के मुद्दे को भी उठाती है। पूंजीवाद और समाज खासतौर से कार्पोरेटीकरण से उत्पन्न होने वाला विस्थापन के खतरे के प्रति अगाह करती है। डकैत चूहे उन चूहों के खतरों से सतर्क करती है, जो सामंती परिवेश में सीमित थे, वे वर्तमान में व्यापक रूप में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के दलाल या डकैत चूहे बन गए। ऐसे डकैत चूहों की खतरनाक दृष्टि किसानों, खेत - खलिहान, जल-जंगल-जमीन पर है। सबसे बड़ा खतरा तो यह है कि समाज के सब से निचले तबके की सूखी चार रोटियों पर भी 'डकैत चूहों' की कुदृष्टि है।

अमेरिका से फिजिक्स विषय में डॉक्टरेट करने वाले प्रो. रवि सिन्हा का 21 वीं सदी में नया समाजवाद विषय का व्याख्यान सुनने के पश्चात् रंगकर्मी आशीष पाठक ने लगभग दस वर्ष पूर्व 'डकैत चूहे' नाटक को लिखा था। उस समय आशीष पाठक निर्देशित समागम रंगमंडल का 'पॉपकार्न' नाटक मंचित होना शुरू हुआ था। यह वह समय था, जब भारत भू-मंडलीकरण व नव उदारवाद की चपेट में आ चुका था। वैश्विक पूंजीवाद विस्तृत रूप ले रहा था। रवि सिन्हा के व्याख्यान से आशीष पाठक को कुछ सूत्र मिले और उन्होंने उसे स्क्रीप्ट में विस्तार दिया। आशीष पाठक व समागम रंगमंडल की रंगकर्म में यह शुरूआत थी। समूह छोटा था, इसलिए शुरूआती दोनों नाटक एकल पात्रीय लिखे व प्रस्तुत किए गए। सबसे पहले पॉपकार्न में विनय शर्मा और डकैत चूहे में अमित विश्वकर्मा ने भूमिका निभाई। डकैत चूहे को भोपाल के योगेश परिहार ने एक पात्रीय के स्थान पर समूह में प्रस्तुत किया। लगभग दस वर्ष पश्चात् आशीष पाठक मध्यप्रदेश के सीधी के युवा कलाकार शिवा कुंदेर के साथ 'डकैत चूहे' को पुनः मंच पर ले कर आए। पुनः मंचन को परम्परा का पुनर्पाठ भी कहा जा सकता है। इस नाटक की प्रस्तुति पिछले दिनों जबलपुर में हुई।

'डकैत चूहे' नाटक प्रस्तुति

हितोपदेश की कथा 'धन की शक्ति' पर आधारित है। पुरानी कहानी जहां धन की ताकत का खुलासा करती है, वहीं नाटक प्रस्तुति की कहानी पूंजी के चरित्र का बखान करती है। पूंजी का व्यवहार देखकर कहना पड़ता कि इन्द्रियाँ ही नहीं राज्य और समाज की शक्तियाँ भी कार्य करना बंद कर देती हैं या उल्टा करने लगती है। भू-मंडलीकरण में पूंजी किस प्रकार किसानों, आदिवासियों और साधारण लोगों के छोटे-छोटे सपनों और सुविधाओं को अपना आहार बना रही है। इस प्रस्तुति में मुख्य प्रतीक चूहे व अन्य संकेतों के माध्यम से संदेश दिया गया कि एक साधारण चूहा पूरी मानव संस्कृति व सभ्यता को लगातार कुतरता जा रहा है। 'चूहा' से 'चूहे' बनने तक सीमित नहीं है, बल्कि डकैत हो गए। ये वह चूहे हैं, जो कभी साधारण मनुष्य हुआ करते थे, वर्तमान में उन के अंदर इतनी ताकत आ गई कि वे सुदृढ़ संस्कृति को भी कुतरने लगे हैं। चूहे इतने शातिर हैं कि वे गरीब व आदिवासियों को भी नहीं छोड़ रहे। साम्राज्यवाद, निजी करण, कंपनी करण और विस्तारवादी नीतियों के पीछे यही डकैत चूहे हैं। नाटक में बार-बार एक सवाल उठता है कि क्या आप इन चूहों को जानते हैं, यदि हां तो-ये लगातार क्यों बढ़ते जा रहे हैं। इन चूहों का भोजन आम लोगों की आशाएं, उम्मीद और सपने क्यों हैं? नाटक में एक महत्वपूर्ण सवाल यह भी उठता है कि चूहे सरहद तक ही नहीं, हमारे घरों तक में आ गए। जो वर्षों से बचा हुआ था, वह खत्म हो रहा है और जो कुछ निर्मित हो रहा है, वह सिर्फ रेत का टीला है, जो अनाज में कभी भी बदला नहीं जा सकता। परिवर्तन के रूप में सिर्फ चूहों की संख्या बढ़ती जा रही है।

'डकैत चूहे' को हम जनवादी प्रस्तुति भी कह सकते हैं। नाटक प्रस्तुति विकास के साथ समाज के मुद्दे को भी उठाती है। पूंजीवाद और समाज खासतौर से कार्पोरेटीकरण से उत्पन्न होने वाला विस्थापन के खतरे के प्रति अगाह करती है। डकैत चूहे उन चूहों के खतरों से सतर्क करती है, जो सामंती परिवेश में सीमित थे, वे वर्तमान में व्यापक रूप में बहु राष्ट्रीय कंपनियों के दलाल या डकैत चूहे बन गए। ऐसे डकैत चूहों की खतरनाक दृष्टि किसानों, खेत-खलिहान, जल-जंगल-जमीन पर है। सबसे बड़ा खतरा तो यह है कि समाज के सब से निचले तबके की सूखी चार रोटियों पर भी 'डकैत चूहों' की कुदृष्टि है। ये वे रोटियां हैं, जिनके सहारे गरीब किसान, साधारण व आदिवासी आत्मविश्वास के साथ जीवन जी रहे हैं।

आशीष पाठक ने नाटक में संवाद विचारोत्तेजक लिखे हैं। एक दृश्य में संवाद है-' 'झोपड़ी से उस दिन जो चूहे भागे थे, फैल चुके हैं अब पूरी दुनिया में। अमेरिका में सबसे ज्यादा और क्यूबा में सबसे कम। मध्यप्रदेश में उन्हें बहुतायत में देखा जा सकता है। सिंगरौली, अनूपपुर, रायसेन और चुटका में। रोटियों से अब उनका पेट नहीं भरता। उन्हें चाहिए आदिवासी और किसानों की जमीन खाने के लिए। उन्हीं का है जंगल, उन्हीं का है जंगल राज। शेर से भी ज्यादा ताकतवर हो चले हैं, ये डकैत चूहे।' ' इसी प्रकार नाटक का अंत एक क्रांतिकारी वक्तव्य के साथ होता है, जो कि पाश की कविता की पंक्ति है- 'अब वक्त आ गया है कि अपने बीच के

रिश्ते का इकबाल करें। और विचारों की लड़ाई मच्छरदानी से बाहर होकर लड़ें। अब वक्त आ गया है कि निकल पड़ें सामूहिक शिकार पर इन डकैत चूहों के।' ' नाटक प्रस्तुति अंधेरे में सकारात्मक लौ को बरकरार रखने के लिए आशान्वित दिखती है।

आशीष पाठक अपने नाटकों में प्रतीक व बिम्ब का प्रयोग करते हैं। नाटक की मुख्य थीम 'चूहे' और अटारी पर रखी चार रोटियाँ भी प्रतीक हैं। लेखक व निर्देशक के रूप में आशीष पाठक 60 मिनट की पूरी प्रस्तुति में स्पष्ट दिखते हैं। डकैत चूहे में शिवा कुंदेर की इस प्रस्तुति के साथ द्वितीय मंचन था। एकल पात्रीय प्रस्तुति में अभिनेता को काफी ऊर्जा लगानी पड़ती है। ऊर्जा की दृष्टि से शिवा कुंदेर सफल रहे। उन्होंने केरल के मार्शल आर्ट 'कलरीपायटु' विशेष प्रशिक्षण लिया है। वे प्रस्तुति में कई बार फिनिशिंग में गड़बड़ा जाते हैं। एकल पात्रीय नाटक का फार्म ही ऐसा रहता है कि जो कलाकार को परिपूर्ण बनाते हैं, लेकिन शिवा कुंदेर को शारीरिक ऊर्जा के साथ अभिव्यक्ति के मध्य उचित संतुलन बनाना होगा। डकैत चूहे में उन्हें अभिनय करते समय ब्रेन, बॉडी, सोल, इमोशन और वॉयस का ध्यान रखना होगा। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि शिवा नाटक प्रस्तुति के विचार को जितना आत्मसात करेंगे, वे मंच पर उतने ही सफल होंगे। नाटक में रोहित झा ने राजस्थानी नगाड़ा, दक्षिण भारतीय चंडा, ड्रम, ढफ, झांझ, मांदर, मंजीरा का उपयोग कर जहां अपने हुनर का प्रदर्शन किया, वहीं नाटक को संगीतमयी गति दी।

आशीष पाठक की नाटक प्रस्तुति जटिलता लिए रहती हैं। डकैत चूहे भी जटिल प्रस्तुति है, लेकिन अंत में विचार व संदेश को सफलतापूर्वक दर्शक के मस्तिष्क में पहुंचा देती है। आशीष पाठक ने प्रस्तुति को प्रोसेनियम व यार्ड थिएटर (लगभग नुक्कड़) दोनों रूप में ढाल दिया है। इस नाट्य प्रस्तुति को वे समाज के उस तबके तक अवश्य पहुँचाएँ, जिन की उन्होंने नाटक में बात की है।

पंकज स्वामी जबलपुर में रहते हैं। नाट्य समीक्षा और साहित्य में इनका दखल है। वह हिंदी की चर्चित पत्रिका 'पहल' से भी जुड़े हैं।

पंकज स्वामी, नाट्य समीक्षक

✧ ✧ ✧

देश की प्रथम महिला शिक्षिका के जीवन पर अनुपम उपन्यास

हृषीकेश पाठक

बहरहाल, उन्नीसवीं शताब्दी के शूद्र जाति के उद्धार के लिए महात्मा ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी सावित्री फुले सामने आये और तमाम झंझावातों को झेलते हुए शिक्षा की ज्योति जगाने में और शिक्षा के प्रति लोगों के अन्दर जुनून जगाने में वे सफल रहे तथा ब्राह्मणों के पाषण्ड से भी लोग अवगत हुए। समीक्ष्य उपन्यास एक शोधपरक उपन्यास भी है, क्योंकि लेखक ने काफी शोध किया है और उन स्थानों क भ्रमण किया है, जो आज भी अतीत की तस्वीर है।

जिया लाल आर्य हमारे समय के उल्लेखनीय साहित्यिक हस्ताक्षरों में से हैं, जो रचनात्मक लेखन के साथ ही हिन्दी को साहित्यिक विशिष्टताओं के साथ विस्तार देने में महती भूमिका निभा रहे हैं। श्री आर्य ऐसे साहित्यकार हैं, जो प्रचलित विमर्शों और चर्चाओं की दौड़ में शामिल होने के लिए नहीं लिखते। इनकी रचनाओं में प्रधान तत्व संवेदनशीलता है। दर्जनों पुस्तकों के रचयिता जिया लाल आर्य की सद्य: प्रकाशित कृति 'क्रान्तिजोती सावित्री फुले' देश की प्रथम महिला शिक्षिका सावित्री फुले के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को औपन्यासिक शिल्प में ढालने का सफल प्रयास है।

समीक्ष्य उपन्यास की विशेषता यह है कि इसमें महिला सशक्तीकरण एवं संघर्ष की प्रतिमूर्ति सावित्री फुले के जीवन को पहली बार उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जो सर्वाधिक लोकप्रियता के शिखर पर जाएगा। इसके पूर्व इनका एक और उपन्यास 'जोतीपुंज महात्मा फुले' वर्ष 2006 में आ चुका है, जो सावित्री फुले के पति हैं, जिसकी साहित्य जगत् में काफी सराहना हुई। महाराष्ट्र एवं मध्यप्रदेश के पाठकों के अनुरोध पर लेखक ने महात्मा फुले की विदुषी पत्नी के जीवन-संघर्ष पर उपन्यास लिखा है।

समीक्ष्य उपन्यास में ब्राह्मणों का शूद्रों और महिलाओं के लिए तालिबानी तथा लश्कर-ए-तोएबा जैसे आतंकवादी रूप दिखाया है, जिसने अफगानिस्तान में शिक्षा ग्रहण करनेवाली युवतियों को जहर देकर मार दिया और पाकिस्तान में मलाला को गोलियों से

छलनी कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में तथाकथित ब्राह्मणों का आतंक कुछ ऐसा ही था। तथाकथित इसलिए कि ब्राह्मण जो सही में होगा और वेद-शास्त्र पढ़ा होगा, वह कभी किसी पर अत्याचार कर ही नहीं सकता, क्योंकि प्राणि मात्र में जीव तो शिव ही रूप में विद्यमान होते हैं, तो फिर ईश्वर से कोई घृणा कैसे कर सकता है? इसी पुस्तक में लेखक ने लिखा है कि गुजरात के स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज को स्थापित किया। उन्होंने वेदों का गहन अध्ययन किया था और वैदिक ज्ञान को आधार मानकर लोक मानस को अवगत कराया। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता, जाति-वर्ण-भेद, जनमत, ऊँच-नीच, पुनर्विवाह विरोध जैसी दकियानूसी मान्यताएँ वेद सम्मत नहीं है। उन्होंने ब्राह्मणों एवं पण्डितों द्वारा प्रचारित भ्रांति का खण्डन किया कि स्त्रियों और शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। इसलिए कि वर्ण-व्यवस्था प्राचीन काल में कर्मणा थी, इसलिए ब्राह्मण का लड़का कर्म से शूद्र होता था और शूद्र का लड़का ब्राह्मण होता था। कर्म के चलते ही मातंग ऋषि, श्रृंगी ऋषि, नारद, विश्वामित्र, पराशर, कौशिक, महर्षि वशिष्ठ, गौतम, वेदव्यास जन्मना ब्राह्मण नहीं होते हुए भी कर्म से ब्राह्मण हुए। जब से स्वार्थ पूर्ति के लिए वर्ण-व्यवस्था को जन्मना मान लिया गया, तथाकथित ब्राह्मणों की बाढ़ आ गई और वे सुविधाभोगी हो गए तथा तरह-तरह के हथकण्डे अपनाने लगे। उन हथकण्डों में सबसे कारगर और प्रभावी हथकण्डा श्राप था, जिससे अन्य लोग और खासकर शिक्षा से वंचित शूद्र जाति के लोग गुलाम बनते गये और तथाकथित ब्राह्मणों की चाँदी कटने लगी। ऐसे ब्राह्मणों के निशाने पर शूद्र और महिला रहीं, जो शिक्षा से वंचित थे और अभिशाप से अभिशप्त होने के भय से ब्राह्मणों की हर बात मानते थे।

बहरहाल, उन्नीसवीं शताब्दी के शूद्र जाति तथा महिलाओं पर तथाकथित ब्राह्मणों के तालिबानी फरमान के चलते ही महात्मा ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी सावित्री फुले सामने आये और तमाम झंझावातों को झेलते हुए शिक्षा की ज्योति जगाने में और शिक्षा के प्रति लोगों के अन्दर जुनून जगाने में वे सफल रहे तथा ब्राह्मणों के पाषण्ड से भी लोग अवगत हुए। समीक्ष्य उपन्यास एक शोधपरक उपन्यास भी है, क्योंकि लेखक ने काफी शोध किया है और उन स्थानों क भ्रमण किया है, जो आज भी अतीत की तस्वीर है। जन्म से लेकर समस्त घटनाओं की तिथि तक का उपन्यास में उल्लेख होने से यह मात्र जीवनीपरक ही नहीं, शोधपरक भी है। सम्पूर्ण उपन्यास घटनाओं और कथोपकथ से भरा हुआ है और पाठक को पढ़ने की नई ऊर्जा मिलती है। संघर्षशील व्यक्तित्व की कहानी लेखक ने इतनी रोचकता से लिखी है कि कहीं भी पाठक भटकता नहीं है, बल्कि जुड़ा रहता है और अंत तक पढ़ते रहने की उत्सुकता बनी रहती है। कथा का प्रारम्भ, संघर्ष की दास्तान और ब्राह्मणों का प्रकोप कुछ इस कदर दर्शाया गया है कि बीच में उपन्यास को पढ़ने से छोड़ देना अपराध-सा लगता है। यही किसी लेखक की रचना की सबसे बड़ी सफलता होती है, जो इस समीक्ष्य उपन्यास में मिलती है।

ज्योतिराव गोविन्दराव फुले उर्फ ज्योतिबा का स्वर्गवास हो गया है और उनके शुभचिंतकों की भीड़ जुट आई है। उनका पार्थिव शरीर अंतिम संस्कार के लिए जा रहा है, उसी समय लेखक ने बड़े ही खुबसूरती से सावित्री फुले के कदम को रोक दिया है और फ्लैश बैक में उनकी स्मृति चली जाती है तथा यहीं से कहानी प्रारम्भ होती है। सावित्री फुले का जन्म स्थान नायगाँव से ज्योतिबा का जन्मस्थान खाजबाड़ी ग्राम तक की यात्रा से लेकर पेशवाराज के अत्याचार से आतंकित शूद्र समाज की कहानी का अंदाज कुछ ऐसा है कि रोचकता बांधे रखती है। पेशवाराज का आतंक कुछ इस

प्रकार लेखक ने वर्णन किया है – पेशवाराज में महार, माँग, चमार, वाल्मीकि जैसी अछूत मानी जानेवाली जातियों का जीवन नरक से भी बदतर था। सड़क पर चलने का समय निर्धारित था। दिन की तपती दोपहरी में ही बाहर निकल सकते थे। उस समय ब्राह्मण लोग अपने घरों में आराम करते रहते थे। उन्हें थूकने के लिए गले में हंडिया बाँधना पड़ता, कमर में झाड़ू बाँधना पड़ता, जिससे सड़क से उनकी पगधूलि साफ होती चले और किसी कारणवश यदि दिन के अन्य भागों में घर से निकलना हो, तो थाली पीटते चलना पड़ता था, जिससे भूदेव ब्राह्मण देवता अपने घर से बाहर नहीं निकले। सुबह-शाम तो अछूतों को बाहर निकलना प्रतिबन्धित था, क्योंकि उस समय मानवतन की परछाईं लम्बी रहती है और परछाईं का स्पर्श होने पर ब्राह्मण देवता को स्नान करके पवित्र होना पड़ता था। ऐसे वातावरण में अंग्रेजों का विस्तार अबाध गति से होता चला गया। अंग्रेज छूआछूत को नहीं मानते थे, जिससे धीरे-धीरे शूद्रों के दिल पर राज करने लगे। महात्मा ज्योतिबा फुले और सावित्री फुले भी अंग्रेज के समर्थक थे। अंग्रेजी सरकार को वे दयालु सरकार मानते थे। इसका मतलब यह नहीं कि वे दासता के समर्थक थे। इसी पुस्तक में लेखक ने उधृत किया है कि 'फुले दम्पत्ति एवं तत्कालीन त्रस्त लोग गुलामी के पक्षधर नहीं थे, परन्तु पेशवा के शासन से मुक्ति मिलने से अंग्रेजी शासन को अपेक्षाकृत अच्छा मानते थे।' इसीलिए फुले दम्पत्ति ने कभी अपना धर्म परिवर्तन नहीं किया। हिन्दू में आपसी फूट के चलते ही अंग्रेजों को पाँव पसारने में काफी सहूलियत हुई। जिस समय पेशवाराज का अंत हुआ, उस समय शूद्रों ने खुशियाँ मनायीं। लेखक का कहना है कि 17 नवम्बर 1817 को पेशवा बाजीराव के द्वितीय राज का सूर्य डूब गया और गरीब, पिछड़े, अछूत, अन्त्यजों के भाग्योदय की लालिमा के दर्शन होने लगे।

समीक्ष्य उपन्यास में शूद्रों के उधार के लिए ज्योतिबा फुले और सावित्री फुले को अवतरित रूप में माना गया है और सावित्री को सत्यवती के रूप में प्रतिपादित किया गया है। ऐसा इसीलिए भी कि दोनों की आपसी समझ काफी सुदृढ़ थी, जिसके चलते ही उनके दाम्पत्य जीवन में कभी कठिनाई नहीं आई और दोनों ने साथ-साथ चलकर शूद्रों तथा महिलाओं के बीच शिक्षा और सभ्यता की ज्योति प्रज्ज्वलित की। सावित्री जब नौ वर्षों की थी, तो तेरह वर्षीय ज्योतीराव से शादी हो गयी। शादी होने तक सावित्री बा कुछ भी पढ़ी लिखी नहीं थी, क्योंकि ब्राह्मणों के प्रकोप से महिलाओं का पढ़ना काफी कठिन था। लेकिन जोतीराव फुले ने सावित्री को पढ़ाया। उनका मानना था कि विद्या अंधविश्वासों से दूर ले जाती है और अज्ञानता से मुक्ति दिलाती है। सावित्री फुले जब पढ़ना-लिखना सीख जाती हैं, तो एक पाठशाला खोला जाता है, जिसकी अध्यापिका सावित्री होती हैं और यहीं से सावित्री फुले को भारत की प्रथम महिला शिक्षिका होने का गौरव प्रदान होता है। फिर तो न जाने कितने विद्यालय खुले और शूद्रों तथा महिलाओं को पर्दा प्रथा से बाहर निकालकर विद्यालय जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। हालाँकि इसके लिए सावित्री बा फुले को ब्राह्मणों के अनेक हथकण्डों का सामना करना पड़ा, लेकिन वे अपने लक्ष्य पर अडिग रहीं। हाथ में मशाल लिये फुले दम्पत्ति खड़े हो गये ..... एक-एक कर लोग जुटते गये ..... और कारवां बनता गया ..... जो ब्राह्मणों के पाषण्ड रूपी कुहासा की चादर को फाड़ते गये और राह पर उजास फैल गया। फिर अनाथालय भी खोला गया, जिसमें अवैध जन्मे बच्चों, जो जंगल-झाड़-घूर पर फेंक दिये जाते थे, का लालन-पालन प्रारम्भ हुआ। यही नहीं, विधवा गर्भवती महिलाओं के प्रसव के लिए 'बाल हत्या निषेध भवन' की स्थापना की गयी।

'सत्यमेव जयते' के सिद्धान्त को माननेवाले महात्मा फुले ने आजीवन सत्य का अनुसरण किया। उन्होंने पाषण्डों से अपने समाज को बचाने के लिए 'सार्वजनिक सत्यधर्म' पुस्तक की रचना की। हालाँकि इस पुस्तक का प्रकाशन उनकी मृत्यु के पश्चात् हुआ, जिससे शूद्र समाज लाभान्वित होता आ रहा है। यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि फुले दम्पत्ति को अपनी कोई संतान नहीं थी। हालांकि उनकी संतानें इतनी थीं कि कभी कोई अपनी संतान की चिन्ता ही नहीं रही। फिर घरवालों के दबाव में भी उन्होंने दूसरी शादी नहीं की और एक लड़का गोद ले लिया, जो ब्राह्मणी की कोख का जन्मा था, जिसका नाम यशवन्त राव था, जो बाद में डॉक्टर बने और वे सपत्नीक लोक सेवा में लगे रहे।

समीक्ष्य उपन्यास से पता चलता है कि ज्योतिबा कवि भी थे और बहुत सारी रचनाएँ उन्होंने काव्य में की है। बाद में तो सावित्री बा ने भी काव्य की रचना करने लगी थीं। इसमें जगह-जगह मुहावरों का प्रयोग उन्होंने काव्य में की है। बाद में तो सावित्री बा ने भी काव्य की रचना की। इसमें जगह-जगह मुहावरों का प्रयोग किया गया है, जो सटीक तो लगते ही हैं, रौनक बिखेरते हैं। यही नहीं, आवश्यकतानुसार संस्कृत श्लोकों को भी उदाहरण के तौर पर लिखे गये हैं, जो सार्थक लगते हैं। एक और घटना की चर्चा आवश्यक है कि ज्योतिराव फुले को एक अभिनन्दन समारोह में 'भारत के बुकर टी वाशिंगटन' की सम्मानोपाधि से विभूषित किया गया। रामबहादुर श्री बिट्ठलराव बंदेकर द्वारा आये आदि गण्यमान श्रेष्ठजनों के सम्बोधनोंपरान्त ज्योतिराव गोविन्दराव फुले को 'महात्मा' की पदवी से 11 मई 1988 को अलंकृत किया गया और प्रशस्ति पत्र दिया गया। अज्ञान, अन्धश्रद्धा, रूढ़िवादिता, झूठा धर्म, ब्राह्मणवाद, साहूकारवाद इन समस्त दुर्गुणों के विरुद्ध आवाज उठाने वाले और मानवता के लिए शूद्र और अतिशूद्रों को सामाजिक दासता से मुक्ति दिलानेवाले ज्योतिराव फुले तो महात्मा है ही। महात्मा शब्द की सार्थकता उस समय सामने आती है, जब वे अन्तिम सांस ले रहे हैं और उनकी पत्नी चिंतित हैं, तो वे कहते हैं - सावित्री मैं सदैव तुम्हारे साथ साया की तरह रहूँगा। यह आत्मा दो साल तक तुम्हारे आस-पास चक्कर काटती रहेगी। दो साल बाद नया घर मिलेगा, जिसमें वह अपना निवास बनायेगी। वह नवीन शरीर ही मेरे कार्यों को पूरा करेगा। मेरे सपनों को पूरा करेगा। ऐसा कोई सिद्ध महात्मा ही कह सकता है। पति के पश्चात् सावित्री फुले ने अपने पति के कार्यों को 10 मार्च 1897 तक पूरा करने में लगी रही।

समीक्ष्य उपन्यास के लिए एक पंक्ति में कहना हो तो यह कहना उचित होगा कि अगर यह उपन्यास नहीं आता, तो महात्मा ज्योतिराव अधूरा रहते और समाज भी भारत की प्रथम शिक्षिका से रू-ब-रू नहीं हो पाता। इस अनुपम उपन्यास से तो हम धन्य-धन्य हुए।

हृषीकेश पाठक, 203, रामदास प्लाजा अपार्टमेंट, आदर्श कॉलोनी, पश्चिम पटेल नगर,
पटना – 800023, मो० : 9939195050

'रात, नींद और सपने' एक दृष्टि में

डॉ. अर्चना त्रिपाठी

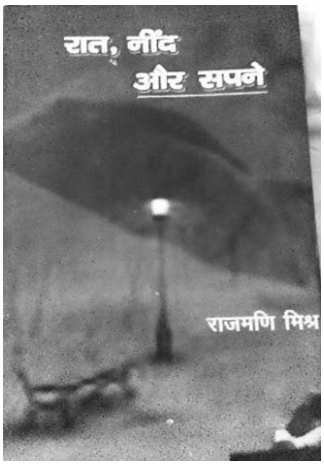

स्वान्यंत्रोत्तर काल में हिन्दी निबंध साहित्य का उत्तरोत्तर विकास होता गया। हास्य-व्यंग्य प्रधान निबंधों में भ्रष्टाचार, भौतिकवाद आदि से उत्पन्न चुनौतियों से संघर्षरत मनुष्य की विडम्बना के साथ राजनीति के सत्य को भी अनावृत्त करने के प्रश्नों पर निबंधकार लिख रहे हैं।

भारतीय साहित्य में निबंध शब्द का प्रयोग, बांधना, प्रबंध, व्यवस्था, संग्रह आदि अनेक अर्थों में होता था। लिखे हुए भोजपत्रों को सँवार कर बाँधने को निबंध कहा जाता था। कालांतर में अधिक व्यापक अर्थ में 'प्रबंध' का प्रयोग होने लगा। आज निबंध और प्रबंध दोनों अपने मूल या रूढ़ अर्थों में प्रयुक्त नहीं होते हैं।

अंगरेजी की तरह हिंदी में भी निबंध का विकास सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ। किंतु हिन्दी निबंध अंगरेजी के एसे के अनुकरण मात्र से विकसित नहीं हुआ। प्रसिद्ध अंगरेजी समीक्षक डॉ. जॉनसन ने एसे को मुक्त मन की मौज, अनियमित, अपरिपक्व सी रचना, न कि नियमबद्ध और व्यवस्थित कृति माना। एसे के जनक फ्रांसीसी लेखक नाइकेल दि नौतेन ने स्पष्ट लिखा - 'ये मेरी अपनी भावनाएँ हैं, इसके द्वारा किसी सत्य के अन्वेषण का दावा नहीं करता।'

हमारे यहाँ निबंध को गद्य की कसौटी कहा गया है। यह तार्किक विद्या हृदय और बुद्धि दोनों के संयुक्त संस्पर्श से विकसित होती है। निबंधकार की वैचारिक गहराई और काल्पनिक ऊँचाई के साथ अध्ययन, अनुभव, प्रतिभा और अभिव्यक्ति की विशेषताएँ भी निबंध में होती है।

आज निबंध साहित्य की अत्यंत लोकप्रिय विधा है, जिसमें लेखक किसी भी

विषय पर अपने विचार या भाव, एक विशेष जीवन के साथ समर्थ भाषा में अभिव्यक्त करता है। इसमें लेखक को अपनी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व के प्रकाशन का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्वीकार किया है कि निबंधकार की आत्माभिव्यक्ति ही निबंध की प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी में निबंध का जन्म और विकास साहित्य के आधुनिक काल - भारतेन्दु युग की देन है। हिन्दी निबंध का द्वितीय उत्थान 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' तथा 'सरस्वती' के प्रकाशन से प्रारम्भ होता है। द्वितीय उत्थान काल को द्विवेदी-युग के नाम से जाना जाता है। हिन्दी निबंध साहित्य का तृतीय उत्थान बीसवीं सदी के तृतीय दशक से होता है। इस समय तक हिन्दी गद्य की भाषा सुव्यवस्थित एवं परिमार्जित हो चुकी थी, रही-सही कसर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के आविर्भाव ने पूरी कर दी।

स्वान्यंत्रोत्तर काल में हिन्दी निबंध साहित्य का उत्तरोत्तर विकास होता गया। हास्य-व्यंग्य प्रधान निबंधों में भ्रष्टाचार, भौतिकवाद आदि से उत्पन्न चुनौतियों से संघर्षरत मनुष्य की विडम्बना के साथ राजनीति के सत्य को भी अनावृत्त करने के प्रश्नों पर निबंधकार लिख रहे हैं। विचार अनुभव और संभावनाओं को अभिव्यक्त करते हुए निबंधकार निबंध की विभिन्न कोटियों को समृद्ध कर रहे हैं।

निबंध लेखकों की कई पीढ़ियाँ एक साथ लिखती रही हैं और लिख रही हैं - इस कड़ी में समस्त निबंधकारों के साथ राजमणि मिश्र का नाम भी बड़े आदर के साथ नि:संकोच लिया जा सकता है।

आज हिन्दी निबंध साहित्य अत्यंत समृद्ध एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य विधा है। इसमें जीवन की वास्तविकता, कहानी की संवेदनशीलता और जिज्ञासा, रेखाचित्र की चित्रत्मकता, नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की रमणीय कल्पना, गद्य-काव्य की भावप्रवणता और लय महाकाव्य की गरिमा, विचारों की उत्कृष्टता, हास्य व्यंग्य, आत्मीय व्यक्तित्व की एकात्मकता, सभी कुछ एक साथ प्राप्त होता है। निबंधों में अपनी परम्परा और संस्कृति के प्रति आत्मीयता और सम्मान भाव है। मानवीय मूल्यों के विघटन के प्रति चिंता है और मनुष्य की सत्ता को उच्चादर्शों से समन्वित कर प्रतिष्ठित करने की हार्दिकता।

'रात, नींद और सपने' मणि जी का यह निबंध संग्रह इसमें संकलित निबंधों में संस्कृति का अन्वेषण, जीवन सत्य की खोज और व्यक्ति के भविष्य के निर्माण की संकल्पना अभिव्यक्त हुई है। इस संग्रह में कुल इक्कीस छोटे-बड़े निबंध है। संग्रह की शुरूआत में 'आस्था की तुलना में' शीर्षक निबंध है और आखरी निबंध का शीर्षक है 'नाम'। यथार्थ जीवन की तमाम विसंगतियों के बीच तनावों से ग्रसित मनुष्य मानसिक एवं शारीरिक शक्ति के लिए जीवन में ऊर्जा और संतुलन

को बनाने के लिए अपनी प्राचीन जीवन-शैली से सीख लेना चाहता है। अपने आचरण में सोच में भी संतुलन की आशा करता है, जिससे मनुष्य स्वस्थ एवं तनावमुक्त हो सके।

इनके निबंधों में वर्तमान पीढ़ी के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए भी भरपूर अनुभव एवं विचारों की प्रचुरता है। इस संग्रह के समस्त निबंधों का शीर्षक ही पाठकों में आकर्षण पैदा करता है। रात का संबंध नींद से, नींद का सपने से, इस तरह 'रात, नींद और सपने' इसी शीर्षक से एक निबंध संग्रह में है। आज की भाग-दौड़ भरी जिंदगी में उसके 'मनुष्य के' जीवन से चैन की नींद लुप्त हो गई है। वह दिवास्वप्न देखने में मग्न हो चुका है। जब नींद ही नहीं है, तो वह सपने क्या बुनेगा। नींद हो तो सुखद सपनों का एहसास भी साथ होता है, पर आज कि वर्त्तमान स्थिति से लेखक बहुत चिंतित है, वह चिंता ही लेखनी बन इस संग्रह की रचना करवाता है। वह दिन में काम के साथ-साथ रात में आराम करने तथा भरपूर नींद लेने व सपने देखने की बात दोहराता है। सपनों के मर जाने से लेखक चिंतित है, जिसका कारण सपने देखने में ही लेखक के अनुसार विकास संभव है। सही है सपने साकार करने में ही तो मनुष्य जीवन गुजारता है।

चिंतन, ज्ञान और चेतना के प्रतीक निबंधों में जीवन ऊर्जा के अजस्रस्रोत को अनुभव करना सहज है। आस्था की तुला में ऐसा ही निबंध है जो पाठकों की निराशा दूर कर आस्था को स्थापित करता है और कहता है जैसी आस्था वही करो - उन्हीं के शब्दों में - कुल मिलाकर हमारी आस्था और प्रवृत्ति का ही खेल सर्वत्र दिखायी पड़ता है। यदि ऐसा नहीं है तो तुलसी बाबा के शब्दों में - 'जो प्रभु पार अवसिगा चहहूँ मोहि पद पदुम पखारन कहहूँ।' केवट के बार-बार बहुविध निवेदन को श्रीराम द्वारा अस्वीकार कर दिये जाने पर वह निराश होता है, आस्था-भक्ति से अभिभूत उसके अराध्य द्वारा पाँव पखारने की स्वीकृति मिलते ही केवट अभीष्ट ही भूल गया।

'सौन्दर्य क्या है' यह जानने को उत्सुक मणि जी का कहना है कि मनुष्य की सुंदरता उसकी नेकनीयती में ही है। सर्वथा सत्य है। हमारे जीवन यात्रा में कई ठहराव आते हैं। देशकाल तथा मन:स्थिति के अनुरूप सौंदर्य की परिभाषा भी रूप बदलती रहती है। एक ही चीज अलग-अलग लोगों को सुंदर या असुंदर लगती है। हमें अपने देश के पहाड़ सुंदर लगते हैं तो दूसरों को वे नहीं भाते, उनके लिए वे सिर्फ पत्थर हैं। माँ के लिए बच्चा बहुत सुंदर होता है, वहीं पुरुष के मन को परकीया लुभाती है।

मनुष्य के भाव जगत का सौंदर्य सामाजिक है, परन्तु प्रवृत्ति का सौंदर्य? उसकी अनुभूति सामाजिक, पर वह सौंदर्य जो वास्तव में प्रवृत्ति का सौंदर्य, सामाजिक न होकर प्राकृतिक है।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' यहाँ ज्योति की पाकीजियत वर्णित है। प्रकाश के स्रोत तथा रौशनी का प्रतीक सूर्य, चंद्र, तारे, बिजली के बल्ब तमाम चीजें हैं, परन्तु दीपक के प्रकाश की तुलना नहीं हो सकती। इसका नि:स्वार्थपन, खुद को भस्मीभूत करते हुए अन्त तक अंधेरे से लड़ने का हौसला

इसे विशिष्ट महत्त्व प्रदान करता है।

मणि जी की लेखनी में वह शक्ति है, जो किसी भी शब्द को अलग महत्त्व प्रदान कर निबंध का रूप दे देते हैं। उसमें ऐसी रोचकता पैदा करते हैं जो पाठकों को नई दृष्टि प्रदान करता है। हम सरल आँखों से जो साधारण रूप देखते हैं, उसमें असाधारणता पैदा करने की एक अलग ही कला है। जो आज कम ही देखने को मिलती है। इसके निबंधाों में शब्द सजीव हो बोल पड़ते हैं।

मुझे 'भूख' निबंध बहुत ही प्रभावित करता है। इनके शब्दों में भूख नशा है, जो पेट माँगता है। यह मनुष्य से वह सब कुछ कराने में सक्षम है जो नहीं करना चाहिए। भूख की पूर्ति के लिए मानव अमानवीय भूल भी करने को विवश होता है। इसी संदर्भ में मुझे निराला की भिक्षुक कविता भी याद आती है, जिसमें मनुष्य और जानवर दोनों ही अपनी हदें पार करते हैं। इसमें बंगाल के भीषण अकाल का भी वर्णन है, जो हमें भूख की महत्ता दिखाता है।

जगतानंद के शब्दों में – 'कुशल चित्रकार धान की भूसी और मूंगफली के छिलकों से भी मनोहर चित्र बना देते हैं।' यानि साधारण चीजों से असाधारण चित्र का बनना। लेखक ने अपने ललित निबंधों के शीर्षकों का प्रयोग इसी रूप में किया है। साधारण शीर्षकों के द्वारा शब्दों और भावों की ऐसी बुनावट हुई है कि मन को मुग्ध करने वाली कृतियों का निर्माण स्वत: सहज रूप में होता चला गया है।

इस संग्रह की एक और निबंध की बात मैं यहाँ करना चाहूँगी। जिसका शीर्षक है 'जीने की कला' जीव जी लेना एक बात है और जीवन जीने की कला आना एक विशेषता। स्वस्थ रहना जिस तरह हम अच्छे स्वास्थ्य का महत्त्व नहीं समझ पाते, उसी प्रकार शांति की स्थिति में इसके महत्त्व को न समझते हुए इसे उबाऊ अवस्था मान लेते हैं। जीवन के साथ तालमेल व समन्वय बिठाने के लिए मन को ध्यान में केन्द्रित करना जरूरी है। बहुत ही सही बात रचनाकार ने की है। तमाम संघर्षों से जूझता मनुष्य वह कर गुजरता है जो वर्जित है। लेखक ध्यानाकर्षित करता है कि हमें करना क्या चाहिए – हमें भली–भाँति जीवन जीने के लिए स्वयं का आत्म विश्लेषण करते हुए अपने गलतियों के प्रति स्वीकार्यता विकसित करनी चाहिए तथा प्रत्येक व्यक्ति के प्रति आत्मवत् सर्वभूतेषु का व्यवहार करना चाहिए।

हम यदि अपना स्वतंत्र अस्तित्व अनुभव कर सकेंगे और जटिलताओं तथा संकीर्णताओं से मुक्त होगें व दूसरों का अहित न सोचते हुए निर्भय बने रहेंगे, तभी यह जीवन जीने की कला बन सकती है। मन जो है वही संसार है, हम वह करना चाहते हैं जो कि मन चाहता है। इसी मन को अ–मन करने की राय हमें लेखक देते हैं और कहते हैं कि हहम संसार में रहें, मगर संसार को अपने भीतर न रहने दें। यह कार्य सहज नहीं है, पर यह असंभव भी नहीं है। अगर हम अनवरत् कोशिशों को जारी रखें तो हम मन के पार उतर सकते हैं।

इस तरह हम पाते हैं कि संग्रह के सभी निबंध पाठकों को गहरे प्रभावित करते हैं तथा भाव प्रधान और चिंतन प्रधान निबंध हमें ज्ञान तथा संदेश भी दते हैं। सभी निबंध उच्च कोटि के हैं, पर जो ज्यादा भाते हैं। उनमें पिता 'सौंदर्य क्या है', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जीवन जीने की कला 'भूख' और संग्रह का नाम विशेष रूप से आकर्षित व प्रभावित करते हैं। रचनाकार की कल्पना की उड़ान का आकाश विस्तृत और व्यापक है। इन्होंने अपने निबंधों में विविध रंगों आयामों की छटा बिखेरी है। सबसे बड़ी बात समस्त निबंधों में जगह-जगह संस्कृत के श्लोकों को चार दोहों द्वारा अपने बातों की पुष्टि की है। हमारी संस्कृति के महत्ता को रेखांकित करते हुए आज की सार्थकता में उसे जोड़ा है। इनकी इन पंक्तियों पर दृष्टिपात करें- 'आइए, हम सब मिलकर आशा की लौ प्रज्ज्वलित करें, जिसका बिम्ब न तो हटेगा और न म्लान होगा।' लेखक हर क्षण हर विषय में आशावादी है और पाठकों को भी आशान्वित होने की सलाह देते हैं। 'सर्वव्यापी हो', 'श्री विश्वकर्मा', 'लोक रंग', 'बुलावा', 'तेल', 'महामानव' भी अपने आप में कुछ कहते हैं पाठकों से।

जिस प्रकार एक एक तिली अंधकार को दूर करने में सक्षम होती है, वैसे ही संघर्ष और विजय ही भाग्य बदलते हैं। इस पुस्तक की भी सार्थकता यही है कि यह पाठकों के लिए निराशा और अंधकार भरे जीवन में आशा की लौ का काम करती है। जीवन यात्रा में देखें, भोगों अनुभवों का ही परिणाम है। भाषा सहज, सरल एवं स्प्रेषणीय है। लेखक अपनी बातों को समर्थ रूप में कहने में सफल है। यह संग्रह पाठकों के लिए मार्गदर्शन का काम करेगी। शिल्प गठन कथ्य प्रस्तुत करने की कला खुशी और गम के क्षणों की प्रस्तुति बहुत ही कलात्मक है, जो निबंधों की विशेषता बनकर उभरी है।

संप्रति कहानियों, उपन्यासों तुकांत अतुकांत कवि के दौर में निबंधों की रचना अपेक्षाकृत कम है, पर रचनाकार मणि जी का यह संग्रह निबंध प्रेमी पाठकों के लिए एक आशा का दीपक बन उपस्थित होता है। जल्द ही पाठकों को इनका नया संग्रह भी कुछ नए विषयों को लेकर मिलेगा। निबंध के क्षेत्र में यह सराहनीय कदम व कार्य है।

इस दौर में समयाभाव के कारण लोग लम्बे साहित्य पर समय नहीं दे पाते। इस संग्रह के निबंधों की विशेषता है कि बहुत लम्बे व उबाऊ निबंध नहीं है। पाठक कम समय में इसे पढ़कर पूरे लाभान्वित हो जाऐंगे तथा आसानी से आत्मसात् कर सकने में सक्षम होंगे।

डॉ० अर्चना त्रिपाठी, श्री अरविन्द महिला कॉलेज, काजीपुर, पटना
मो० : 9708329867

वर्तमान कवि और कविता का यथार्थ

अनिल कुमार पाण्डेय

कविता की सपाटबयानी में वैचारिकता को ढोने की मजबूरी अधिक होती है। अब यह मजबूरी अपने खेमे के लोगों की वाहवाही प्राप्त करने की भी हो सकती है और त्वरित प्रतिष्ठित होकर छा जाने की भी। यहाँ एक गजब का भीड़तन्त्र काम करता है। अगुवाई करने वाला झंडा उठाने के लिए तत्पर हो उठता है और शेष उसके सुर में सुर मिलाने के लिए उत्प्लावित दिखाई देते हैं। यहाँ कवि का काम कविता का सृजन करना नहीं वैचारिकता से मेल खाते श्लोगन (नारे) को तैयार करना होता है।

कविता का लिखना, दिखाई दे रही घटनाओं का, प्रतीत हो रही बातों का, ठीक-ठीक उसी रूप में रख देना भर नहीं है। ऐसा करने से कविता के समाप्त होने का जितना खतरा होता है उससे कहीं अधिक कवि की कविताई संशय के घेरे में आ जाती है। जब तक पढ़ी जा रही कविता के माध्यम से पाठक कुछ सोचने और अधिक से अधिक कल्पना करने के लिए बाध्य न हो तब तक किसी भी लेखनी को कविता मानने से इनकार किया जा सकता है। एक कविता पाठक को कई अर्थ देती हैद्य कभी मुक्तिबोध ने कहा था मुझे कदम कदम पर चौराहे मिलते हैं इस चौराहे को समझने और उस पर खड़े होने के आनंद को कोई भी सहृदय पाठक बड़ी गहराई से महसूस करता है। इस समय उसके हृदय में बहुत कुछ उठता-मचलता है। बहुत कुछ उठने-मचलने की प्रक्रिया जहाँ से शुरू होने लगे समझ लो कविता आपके अन्दर समाहित हो रही और आप कविता के अन्दर।

आज समकालीन हिंदी कविता जगत में दो तरह के कवि वर्तमान हैं। एक वे, जो सीधे घटनाओं को देखकर कविता की रचना कर रहे हैं और दूसरे वे जो घटनाओं को स्वयं घटित होता महसूस कर कविता की रचना कर रहे हैं। पहले प्रकार के कवियों में सपाटबयानी का खतरा बढ़ जाता है। यहाँ कविता का कहन महत्त्वपूर्ण न होकर घटनाओं को प्रभावी तरीके से प्रस्तुत करना अधिक जरूरी माना जाता है। यह भी कि जहाँ वैचारिकता हावी होगी वहां कला जरूर मौन दिखाई देगी। ऐसे कवियों के लिए शब्दों से सीधा टकराव अपेक्षित है,

'प्रतीक और बिम्ब' सरीखे शब्द बेईमानी हैं। जबकि दूसरे प्रकार के कवि घटनाओं के संसर्ग से उपजे समस्याओं को ठीक उसी रूप में नहीं रख देते जैसा कि उनके सामने घटित हुआ है। वे पहले तो स्वयं घटना बन कर जीते हैं। उसके प्रभाव को अपने अन्दर महसूसते हैं। फिर उस घटना के प्रतीकात्मक अर्थ-सृष्टि के नियामक-तत्त्वों का चयन करते हैं। ऐसे कवियों का दृष्टिकोण विकसित होता जाता है और मात्र सामाजिक संबंधों में घटित होने वाली घटनाएँ प्रभावी न होकर सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश इनकी चिंतन के केन्द्र में दिखाई देता है।

कविता की सपाटबयानी में वैचारिकता को ढोने की मजबूरी अधिक होती है। अब यह मजबूरी अपने खेमे के लोगों की वाहवाही प्राप्त करने की भी हो सकती है और त्वरित प्रतिष्ठित होकर छा जाने की भी। यहाँ एक गजब का भीड़तन्त्र काम करता है। अगुवाई करने वाला झंडा उठाने के लिए तत्पर हो उठता है और शेष उसके सुर में सुर मिलाने के लिए उत्प्लावित दिखाई देते हैं। यहाँ कवि का काम कविता का सृजन करना नहीं वैचारिकता से मेल खाते श्लोगन (नारे) को तैयार करना होता है। उस श्लोगन की सार्थकता इसी में है कि उसका पाठ करने वाला जोर-जोर से चिल्लाकर उसकी सार्थकता को स्पष्ट करे। संभव है इसके लिए किसी पुराने प्रतिष्ठित कवि के प्रति उन्हें गालियाँ भी निकालनी पड़े, भीड़ निकालती भी है। कवि और मंत्रमुग्ध होकर और सुन्दर नारे की सर्जना में स्वयं को व्यस्त कर लेता है। हामारे समय के कई ऐसे कवि हैं जो इस आत्ममुग्ध प्रवृत्ति के शिकार हैं। उनमें से एक समकालीन हिंदी कविता जगत को अब तक कुल चार कविता-संग्रह दे चुकी सरला माहेश्वरी की इस कविता की कुछ पंक्तियों को देखिये, जहाँ नारेवादी वैचारिक विरोध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलने वाला है-

आवश्यक सूचना !
अब पूरा देश राजभक्त होगा !
राजभक्त विमान के सभी यात्रियों के लिए आवश्यक सूचना !
दिल्ली से नागपुर जाने वाले सभी यात्रीगण !
कृपया ध्यान से सुनें !
विमान के लिए सुरक्षा जांच हो चुकी है सभी यात्रियों से निवेदन है कि
विमान में केवल हमारे द्वारा निर्देशित
खाद्य सामग्री
पाठ सामग्री
ध्यान सामग्री
ही ले जाने की अनुमति है!
यात्रियों को उनकी सुविधा के लिए हम फिर से याद दिलाना चाहते हैं कि
विमान में सिर्फ निर्धारित राज-पोशाक में ही
यात्रा की अनुमति है।

सवाल ये है कि आखिर ऐसी सूचनाओं को कविता का शक्ल देकर हम पाठकों के अन्दर कौन-सा काव्य संस्कार पैदा करना चाहते हैं? उनकी संवेदनाओं को किस प्रकार की

रचनात्मकता का बोध कराना चाहते हैं? यह समझने का भी प्रयत्न किया जाना चाहिए कि नारे वही लगा सकता है जो भीड़ का हिस्सा हो। एक कमाल की स्थिति यहाँ और देखी जाती है, वह ये कि कवि अब तक सृजन-कार्य को छोड़कर भीड़-तन्त्र के संगठन में निमग्न हो उठता है। सरला माहेश्वरी की कविताओं में इस स्थिति की वर्तमानता को बखूबी देखा जा सकता है जब वे भीड़ तंत्र को इकठ्ठा करने के लिए 'रोहित वेमुला' 'कन्हैया कुमार', 'कलबुर्गी' आदि की राजनीतिक आवाज को कविता का शक्ल दे रही होती हैं। यहाँ पाठक हैरान हो जाता है और कविता की खोज में आया हुआ स्वयं उनके साथ नारे लगाने के लिए अभिशप्त हो उठता है, पक्ष या विपक्ष में। कई जगह तो ऐसा दिखाई देता है जैसे सरला स्वयं नारा लगाने लगती हैं और वह मानती भी हैं इच्छा होती है जोर-जोर से चीखें... मुर्दाबाद ! मुर्दाबाद। अब कवयित्री का मुर्दाबाद का नारा लगाने के लिए जी करना कहीं न कहीं कविता के पक्ष में तो नहीं है? इसका निर्णय आज का गंभीर और सजग पाठक भी नहीं कर पा रहा है। इनके पक्ष में आलोचक सुनील कुमार का यह वक्तव्य हतप्रभ करता है जिन पाठकों ने इनकी कविताओं को ठीक से पढ़ा है, उनको मालूम होगा कि सरला की कविताएँ पाठकों से सीधे संवाद करती हैं, कला की सीमाओं के पार भी जाकर संवाद करती हैं और मन के अन्दर एक उत्प्रेरणा को जन्म देती हैं। अब यह किस प्रकार की उत्प्रेरण होती है इनके पाठक अच्छी तरह से जानते हैं।

युवा कवि अरविन्द भारती का एक संग्रह बोधि प्रकाशन, जयपुर से प्रकाशित होकर आया है। नारेबाजी और वैचारिक दृष्टि से उनकी कविताओं को भी यहाँ पर परखा और देखा जा सकता है। कहीं गहरे में उन्हें यह आभास है कि यदि वे अपने कवि-स्वभाव में नारेबाजी नहीं करेंगे, उन्हें आने वाले दिनों में दलित कवि का खिताब नहीं मिल सकेगा। अम्बेडकरवादी उन्हें जीने नहीं देंगे और इस तरह वे अपनी बस्ती में ही 'परदेशी' होकर गुमनाम हो जायेंगे। हालांकि ऐसा करना भी गलत नहीं था लेकिन इस स्थिति में ये सपाटबयानी के जो शिकार होते हैं और अंतत: कविता-प्रेमी को जो देने में सफल हो पाते हैं, यहाँ देखा जा सकता है-हमारी जाति के लोगों से करते हो घृणा कहते हो उन्हें नीच अछूत गंदी नाली का कीड़ा जिनके छूने मात्र से हो जाते हो तुम अपवित्र छिड़कने लगते हो गौमूत्र और मेरे जिस्म को छूकर जो हवा तुम्हारे नथुनों से टकराती है तुम्हें मदहोश करती है। हाड़ मांश से बना जिस्म ताजमहल सा प्रतीत होता है मेरे यौवन स्वर्ग सुंदरी मेनका सामान इंद्र बन चाहते हो जिसे भोगना चल हट कुकुर कहीं के धूर्तता की सारी हदें पार कर दी है तू ने भागता है या दूंध लात खींच के। पहली बात तो इस कविता की सारी लकीरों को हटाकर देखा जाए तो कवित्व जैसा कुछ भी कहीं भी नहीं दिखाई देता दूसरे, इनकी अन्य कविताओं को भी पढ़ते हुए ऐसा आभास होता है कि कवि ''लात खींच के'' किसी कुकर्मी को देने के बजाय अपने पाठकों को ही दे रहा है। यह स्थिति अन्यानेक कवियों के यहाँ देखी जा सकती है। धर्म और महापुरुषों की मान्यताओं का प्रचार करना अलग बात है लेकिन कविता की शक्ल में इन्हें प्रचार का माध्यम बनाना स्वयं के व्यक्तित्व का तर्पण तो है ही कविता की भी असमय हत्या है। यदि यह कहा जाए कि समकालीन हिंदी कविता में आज बहुत से कवि भीड़ को जुटाने में व्यस्त हैं तो अत्युक्ति न होगी। नवांकुर कवि तो हैं ही चोटी के कवियों को भी इस तंत्र में बूड़ते-उतराते देखा जा सकता है। इस दृष्टि से उदय प्रकाश की रचनाओं पर दृष्टि देना आवश्यक

हो जाता है। समकालीन हिंदी कविता में खूब पढ़े और सराहे गये इस कवि की अधिकांश कविताएँ महज एक नारा सी प्रतीत होती हैं। वैचारिकता के केंद्र में बहुत कुछ समेटने के मोह में कविता न रहकर गद्य की परिधि में सिमटती हुई दिखाई देती हैं। उदय प्रकाश को कविता से अधिक चिंता अपनी वैचारिकता की है, जो इस कविता में देखी जा सकती है और इसी बहाने उसके प्राप्य पर विचार किया जा सकता है–

उस दिन पांडेजी बुलबुल हो गये थे
कलफ लगाकर कुर्ता टांगा
कोसे का असली, शुद्ध कीड़ोंवाला चांपे का,
धोती नयी सफेद, झक बगुला जैसी।

और ठुनकती चल पड़ी छोटी सी काया उनकी।

छोटी–सी काया पांडेजी की
छोटी–छोटी इच्छाएँ
छोटे–छोटे क्रोध
और छोटा–सा दिमाग

गोष्ठी में दिया भाषण, कहा–
'नागार्जुन हिंदी का जनकवि है'
फिर हँसे कि 'मैंने देखो
कितनी गोपनीय
चीज को खोल दिया यों।
यह तीखी मेध और

वैज्ञानिक आलोचना का कमाल है।'
एक स–गोत्र शिष्य ने कहा–
'भाषण लाजवाब था, अत्यंत धीर–गम्भीर
तथ्यपरक और विश्लेष्णात्मक

हिंदी आलोचना के खच्चर
अस्तबल में
आप ही हैं एक मात्र
काबुली बछेड़े।'

तो गोल हुए पांडेजी मंदिर के ढोल जैसे।

ठुनुक–ठुनुक हँसे

फिर बुलबुल हो गये
फूलकर मगन !

इस कविता को पढने के बाद यह समझना शेष रह जाता है कि आम पाठक को पांडेजी के भाषण और आलोचना की गति-दुरगति से क्या लेना देना है? यह काम तो उदय प्रकाश अपनी एक पुस्तक ईश्वर की आँख में पहले ही कर चुके थे। प्रश्न यह भी है कि यदि वे ऐसा न करते तो फिर उन्हें यह बड़प्पन कहाँ से हाशिल होता कि हिंदी जगत के कटु सत्य को बेनकाब किया है? इन कवियों की कविताओं को देखने और पढ़ने के बाद यह तो सुनिश्चित हो ही जाता है कि भीड़ के केंद्र में कला की कम शोर की गुन्जाईस अधिक होती है। शोर के लिए फेसबुक जैसे माध्यम की अनिवार्यता को खारिज नहीं किया जा सकता। इसलिए भी क्योंकि यहाँ पर समर्थन हर हाल में करना ही है। विरोध और संवाद के लिए कहीं कोई स्थान नहीं है। शोशल साइटों के बादशाह बन चुके बहुत से कवियों को आत्मप्रसंशा की बीमारी लग चुकी है। ये एक दिन में एक साथ कई-कई कविताएँ रचते दिखाई दे जाते हैं। इनके रचनात्मक धरातल की पड़ताल करने पर ऐसा कुछ भी नहीं प्राप्त होता जिसे देर-समय तक कविता की शक्ल में याद किया जाता रहे। नारे और वैचारिकता के समर्थक कवियों द्वारा काव्य में अनुभव और अनुभूति की संकल्पना को भी खारिज करने का षडङंत्र आज है, स्वीकारना तो पड़ेगा ही।

वैचारिकता के खूँटे में बंधकर कविता का सृजन करना बचीखुची मानवीय संभावनाओं को तिलांजलि देना है। ऐसी रचनाओं में 'लोक' कहीं गहरे में प्रभावित होता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि विचार मानव मस्तिष्क की उपज हैं। हित-अहित के प्रश्न इसके केंद्र में होते हैं। जो विचार आज हमारे मन-मस्तिष्क में वर्तमान हैं कल भी वैसे बने रहें यह नहीं कहा जा सकता। संभव है जिससे हमें आज घृणा है कल के दिन उससे प्रेम हो जाए? जो आज हमें बुरा लग रहा है कल वह एकदम से हमारा सबसे बड़ा हितैषी हो जाए? यह भी कि, जो विचार हमारे लिए महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं वह दूसरे के लिए भी वैसे हों, यह दावा नहीं किया जा सकता। कवि और कविता के लिए महत्त्वपूर्ण है अनुभव, जो हम अपने समाजिक व्यवहार से अर्जित करते हैं। यह बदलते नहीं, परिवर्तित नहीं होते, हृदय में स्थाई स्थान बनाकर रखते हैं। अनुभव में ढेर सारे विचार होते हैं कवि अपने अनुभव-पुंज से उन्हीं की अभिव्यक्ति करना चाहता है जो सामाजिक अनुभवों से जुड़ते हों, जो अपने माध्यम से समाज की चित्त को आंदोलित करते हों। इन्हें ही सार्थक अनुभव कहते हैं, ये ही अनुभव काव्य में अनुभूति बन जाते हैं। इसलिए काव्य-निर्माण में विचार आवश्यक न होकर अनुभव बहुत जरूरी हो जाता है। आज के कवि अनुभव के दायरे में रहकर अपनी काव्यात्मक क्षमता का दिग्दर्शन करा रहे हैं, इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, केदारनाथ सिंह, श्री प्रकाश शुक्ल, सुशील कुमार, मनोज कुमार झा, विनोद कुमार शुक्ल, माधव कौशिक, जितेन्द्र श्रीवास्तव, कुमार विजय गुप्त, राजकिशोर राजन सरीखे कवि के पास निश्चित ही अपने समय की भाषा, अपना परिवेश और

अपना इतिहास-अनुभव है। ये जब कविताएँ लिखते हैं, पाठक के पास बहुत कुछ अर्जित करने और अपने रूचि का देश-समाज निर्मित करने का अवकाश होता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के यहाँ 'खूँटा', 'कहार', 'गाय', 'हाथी', 'हिरन', 'केंचुल', 'आग', जैसे विषय हैं जो लोक में रचे-बसे हैं। वे इनसे ही अर्थबोध ग्रहण करते हुए अपनी संवेदना को आकर देते हैं और सामाजिक जीवन में उनकी व्याप्ति दिखाकर पाठक-मन का विस्तार करते हैं। यह विस्तार इस तरह से अपना स्वरूप निर्धारित करता है कि लगता ही नहीं कब हम हाथी पर बात करते-करते आज के सबसे आवश्यक मुद्दे आदिवासी विमर्श पर विचार करने लगते हैं। यथा-

सारी समस्या दाँतों की थी वे उनके दाँत निकाल लेना चाहते थे

वह अपने झुण्ड में चला आ रहा था
मस्ती में झूमता सूंड लपलपाता
साथियों को चूमता पुचकारता

धांय धांय धांयध शिकारियों की सधी हुई गोलियाँ
उसके उन्नत ललाट में धाँस गयीं वह पागल की तरह दौड़ा
मुड़ा पीछे हटा लड़खड़ाया
और जंगल को कँपाने वाली एक मर्मभेदी चिंघाड़ के साथ
गिर पड़ा अकेला
झुण्ड भाग चुका था
गो वह समर्थ था अपने मुखिया का बदला लेने में

और अब वे आए घांसों में छिपे शिकारी
उनके चेहरों पर विजय का उन्माद था
उन्होंने उसके दांत निकाल लिए
जो सर्वोत्तम था उसके पास
जिसके लिए वह मारा गया

बाकी शरीर उन्होंने सौंप दिए
नंगे-भूखे आदिवासियों को
जो सिर्फ पेट के लिए उनके साथ थे
अपने ही जंगल के विरुद्ध।

हाथी से आदिवासी और आदिवासी से जंगल-समाप्ति के षडयंत्र तक पहुँचने में कवि का संघर्ष तो दर्शनीय है ही पाठक की जिजीविषा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। गहरे अर्थों में यहाँ पाठक-मन में एक विशेष प्रकार का उलझाव दिखाई देता है। यह उलझाव कविता को ठीक-ठीक

अर्थ-व्याप्ति तक पहुँचने से रोकता है। पाठक जब जोर देकर पढ़ने की कोशिश करता है तो कविता के साथ सैर भी कर रहा होता है और उसे अपना बनाने के लिए संघर्ष भी। यह संघर्ष ही उसका आनंद है और आनंद प्राप्त करने के लिए उसका प्रयास ही कविता की सफलता है। कविता को सफल बनाने के लिए कवि का ईमानदार होना आवश्यक है। वह विषय-स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अपनी निजी अनुभूतियों का स्तेमाल करना अच्छी तरह से जानता हो। भाड़े की संवेदना और अनुभव के सहारे कविता रचने की प्रवृत्ति एक पल के लिए कवि को संतुष्टि दे सकती है लेकिन पाठक-संवेदना में उसके लिए कोई जगह नहीं होगी। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की मानें तो यह सच है कि शब्द और अर्थ नहीं है कविता। सबसे सुन्दर सपना है-

बेहतर कविता लिखेगा वही
जो बेहतर कवि होगा
जिस समय वह लिख रहा होगा
सबसे अच्छी कविता
जरूर होगा उस समय वह
सबसे अच्छा आदमी
जिस दुनिया में लिखी जायेंगी
बेहतर कविताएँ
वही होगा बेहतर दुनिया

शब्द और अर्थ नहीं है कविता
सबसे सुन्दर सपना है
सबसे अच्छा आदमी का।

किसी परिवेश का निर्माण कई स्तरों से गुजरते हुए होता है। इसलिए यह अपने विशिष्ट रूपों में स्थाई न होकर परिवर्तनशील होता है। मनुष्य का व्यवहार भी परिवेश के अनुसार बदलता रहता है। बदलाव की प्रक्रियाओं से जूझना और उसके बदलते रूप को स्मृति में सुरक्षित रखना कोई आसान बात नहीं है। यहाँ यह सोचना भी अनिवार्य होता है कि मस्तिष्क की चिंतन-प्रक्रिया कभी भी स्थाई नहीं रहतीद्य वह अपने परिवेश जनित सम्पूर्ण परिदृश्य तक गतिमान रहती है। परिणामत: एक ही समय में कई प्रकार की घटनाओं से उसका मस्तिष्क दो-चार होता रहता है। यहाँ रचनात्मक सौंदर्य के लिए कवि के पास स्थायित्व का अवकाश कम मिल पाता है। भ्रमण की स्थिति इस तरीके से उसके मन में वर्तमान होती है, यह निश्चित कर पाना कठिन हो जाता है कि किस घटना का अधिक प्रभाव वह अपने अन्दर आत्मसात करे और किसका कम। संभव है कि किसी के लिए जो घटना एकदम से अस्तित्व का मुद्दा हो, दूसरे के लिए वह कोई घटना ही न हो। यह जरूरी नहीं कि हर घटनाएँ मानव-मस्तिष्क में अपना स्थाई प्रभाव छोड़ने में सफलता प्राप्त कर सकें। फिर, घटनाओं की भी अपनी नियति और अपना परिवेश होता है। कवि इस प्रक्रिया से अछूता नहीं होता। वह नियति को तो दरकिनार करके आगे बढ़ जाता है लेकिन परिवेश की आवश्यकता और जरूरत

को विस्मृत और बिसारकर आगे बढ़ना उसके लिए कठिन होता है।

इस दृष्टि से श्रीप्रकाश शुक्ल का कवि-विवेक हमारे लिए गहरे चिंतन की जमीन उपलब्ध कराता है। वर्तमान के साथ अतीत-परिवेश की विसंगतियों और खूबियों का जायजा लेते हुए मानवीय संवेदना की जो परख करते हैं, वह प्रभावित भी करता है और आकर्षित भी। दरअसल उनके आकर्षण का मुख्य केंद्र भारतीय संस्कृति की वह परंपरा है जो ठेठ लोक से आकार लेकर, लोक-मानस में प्रवेश करते हुए अपना स्वरूप निर्धारित करती है। इनके यहाँ 'इलाहबाद', 'गाजीपुर', 'आँधी में काशी', में निवास करने वाले 'संतुलन' बिठाते 'गंवई गंध' में रचे-बसे 'अपनी तरह के लोग' हैं जो 'अचार', 'चोपी', 'बाटी' आदि की स्मृति और स्वाद को हृदय में समेटे हुए 'एक सुबह की उदासी' को 'ओरहन' के माध्यम से कहते-सुनते हैं। सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की बंजार जमीन पर भी हास-परिहास के समय का वर्तमान होने की परिकल्पना करते हैं। उत्तर आधुनिक परिवेश में वर्तमान कवियों की तरह होटलों और महानगरों से उपजे बनावटी सौंदर्य की नहीं, 'पेड़ और पिता' 'माँ', 'मित्रता' से संस्कार ग्रहण करते हैं ताकि आने वाली पीढ़ी दादी, दादा और गाँव के परिवेश को विस्मृत न कर सके। परिवेश से कविता गढ़ने और गढ़े हुए कविता से एक नई दुनिया को देखने की यह कला 'माँ' कविता में देखी जा सकती है-

दो पन्नों के बीच सटी
या कि सटे पन्नों के बीच अटी
अकसर मेरी दुनिया में माँ प्रकट होती है
और इनको चीन्हने की इच्छा से
बचपन की किसी सुनहरी गुफा में घुसता हूँ
और एक पूरा का पूरा जंगल पकड़ लाता हूँ
जो भाषा के उबटन में पड़कर
कविता की परात में जहर रहा होता है

माघ के मौसम में
पश्चिमी झकोरों के बीच
जब दाँतों से कड़िया के कूटने की आवाज आती है
वह पुवाल की तरह उठती है
और बोरसी की तरह छोप लेती है

अपनी दुनिया की हर मिट्टी में

वह बालो की तरह पकी
तथा खलिहान की तरह खाली होती है
और किसी हमीरा जादूगरनी के आतंक से जूझती
सिरहाने की करवट में

थोड़ा थोड़ा रोज घिसती है

माँ जब घिस जाती है
मंदिर की घंटियों से घाटियों की आवाज आती है
और विन्ध्य के पठारों से उठता धुंआ
गंगा की सतह पर
थार की तरह फैल जाता है

ठीक ऐसे समय में जब हिमाचल पर गिरती है बर्फ
माँ गल रही होती है
मेरे घर की एक मोमबत्ती जल रही होती है
और मैं बड़ा हो रहा होता हूँ।

जब हम श्रीप्रकाश शुक्ल की कविता में पारिवेशिक संरचना की पड़ताल कर रहे होते हैं उस समय कहीं न कहीं पूरा देश और फिर उस देश की भौगोलिक संरचना व्याख्यायित हो रही होती है। इस एक कविता में सम्पूर्ण लोक है और लोक में मनुष्य के होने की संभावना। यहीं संस्कृति अपने सात्विक रूप में परिलक्षित होती है तो समाज संस्कारित हो रहा होता है ठीक उसी शक्ल में जैसे कवि 'बड़ा हो रहा होता' है। इनके यहाँ के पात्र हमारे समकालीन समय के पात्र हैं जो शोषित हैं, दमित हैं, लांछित हैं बावजूद इसके एक जिजीविषा है उनके अन्दर और वे संघर्ष कर रहे हैं। इनके कविता के पाठक समकालीन हिंदी के कविता के सजग पाठक हैं जो निराश नहीं होते, हताश नहीं होते, खाली नहीं लौटते मोह ओरमा कर। भरे-पूरे संवेदना में होते हैं और कविता से बहुत कुछ प्राप्त कर रहे होते हैं। निश्चित ही इन्हें काव्यात्मकता की समझ है और काव्यात्मकता को इनकी।

कुमार विजय गुप्त समकालीन हिंदी कविता में हालांकि किसी संग्रह के साथ वर्तमान नहीं हैं लेकिन मुख्य धारा की प्रमुख पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ बराबर पढ़ी जाती रही हैं। सामयिक परिवेश की गहरी पकड़ है इन्हें। घटनाओं को निष्पक्ष नजरिये देखने की इनकी अपनी समझ है जिसे वे किसी झंडे के नीचे न होकर स्वतंत्र रूप से परखते हैं। कवि होने की सच्ची भूमिका का एहसास इनके कवि-कर्म में देखा जा सकता है। इनकी कविताओं से गुजरते हुए यह आभास सहज होता है कि जब सामयिक सामाजिक परिस्थितियाँ जीवन में इतनी अधिक प्रभावी हो जाएं कि समय का एक पल भी किसी भयानक यथार्थ सा कड़वा अनुभव दे रहा हो, कविताएँ वहीँ से अपना आकार लेना शुरू करती हैं। कवि की आवश्यकता समय और समाज को यही से अधिक महसूस होने लगती है। इस बात में कोई दो राय नहीं है कि समकालीन समय अपने तमाम विसंगतियों के साथ इस तरह मानवीय संवेदना पर अपना एकाधिकार जमाए बैठा है कि मनुष्य हतप्रभ सा अनिर्णय की दशा में होकर मात्र उसे सहन करनी की स्थिति तक ही सीमित है। वह लाख प्रयत्न करने के बावजूद कुछ विशेष नहीं कर पा रहा है। जीवन-यथार्थ को देखने और फिर उसे झेलने के मध्य यदि कुछ चल रहा है तो मात्र 'चौराहे पर इंतजार', जहाँ कवि ही नहीं कवि के 'साथ खड़ा है सारा-का-सारा देश'। कुमार विजय गुप्त की कविताएँ निश्चित ही देश की उस

आबादी का प्रतिनिधित्व करती हैं जो अभी तक यही नहीं निर्धारित कर सकी कि आखिर उसका कोना कौन सा है?

मध्यकालीन परिवेश से लेकर आज तक की स्थिति में आम आदमी मानव द्वारा निर्मित और लगभग सुझाए गए चौराहे के चार 'दिशाओं' में स्वयं को फिट बैठने में संलग्न है। प्रकृति से हटकर बात करें तो मानव-रूप में निर्मित ईश्वर ने भी उसको यह दिलाशा दिया हुआ है 'ये सारे रास्ते मेरी तरफ आयेंगेध मेरी खिदमत में मेरे समक्ष नतमस्तक' बावजूद इसके वह छला जाता रहा है। यही से व्यक्ति का मोहभंग होता है और यहीं से वह समाज विरोधी करार दिया जाने लगता है। ध्यान से देखने का प्रयत्न करें तो इसी प्रक्रिया से कबीर छला गया था और ढेर बाद में 'अँधोरे में' धकेल दिए गए थे मुक्तिबोध। कवि का यह स्वीकार करना कि-

मैं देख रहा हूँ कि इस चौराहे का चारों कोना

मेरी ही ओर मुखातिब हैं प्रश्नचिन्ह की तरह

एक हंस रहा है दूसरा शांत क्लांत

तीसरा रो रहा है जबकि चौथा काफी गुस्से में है

उन्हें भी तुम्हारा ही इंतजार है। छले जाने की स्थिति से दो-चार होना है। वास्तविकता यदि समझने का प्रयत्न किया जाए तो छले जाने की प्रक्रिया में सत्य का आभास होता है जबकि अब यह साफ नजर आ रहा है न तो ईश्वर कहीं है और न ही ऐसा कोई मार्ग जिसके सहारे वह उस तक पहुँच सके। यदि कुछ है तो मात्र दो विरोधी विकल्प जिसमें से उसे एक पर चलना है।

कुमार विजय गुप्त की कविताई की एक सबसे बड़ी खासियत यह है कि वे लोक-संवेदना के यथार्थ को अपने कवि-हृदय में जीते हैं। जीने का यह सलीका मैं तर्जनी हूँ कविता में खूब सुन्दर तरीके से निखारा है उन्होंने। पूरा का पूरा मुहावरा और युगबोध इस कविता में स्पष्ट होकर नजर आता है। तर्जनी का यह उद्घोस कि 'मेरे इशारे पर नाचती है दुनिया कि मैं नीचे झुकी तो तुम्हें जमीन सूंघ जाती है सामने की ओर तनी तो तुम्हारी अंतरात्मा बिंध जाती है' लोक-संस्कृति में विरोध और प्रतिरोध के तरीके से वर्तमान परिदृश्य के यथार्थ को अपने लोकानुभव के माध्यम से व्यंजित करने का सुन्दर प्रयास है। 'कलम की खोली' के माध्यम से ढोल के अन्दर पोल वाली स्थिति चरितार्थ हो उठती है तो यह कुमार के कविताई की अपनी विशिष्टता और अपनी शक्ति है जो आज समकालीन काव्य जगत में कम ही देखने को मिल रही है।

वर्तमान हिंदी कविता का दायरा विशाल है। कवियों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। होना भी नहीं चाहिए। जितने कवि होंगे समाज उतना ही उन्नतिशील होगा लेकिन जहाँ तक हो सके नारेबाजी से बचाव की कोशिश की जानी चाहिए। क्षणिक मुद्दों पर लिखने के लिए अन्य विधाओं की तरफ रुख किया जा सकता है बजाय कि कविता के स्वरूप से छेड़खानी करने के। इधर कई दिनों से और सही कहें तो कई महीनों से एक ही तरह की कविताएँ लोगों के मन-मस्तिष्क में विचरण कर रही हैं। वह हैं राजनीतिक मुद्दों पर कविताएँ। जनता को जागरूक करना बहुत जरूरी है लेकिन कविता को पूर्ण रूप से चुनाव प्रचार में प्रयोग किये जाने वाले पम्पलेट का रूप दे देना,

कहाँ की समझदारी है? 'लोक' अब भी व्यथित है। प्रकृति अपने अस्तित्व के लिए तड़प रही है। आतताई सम्पूर्ण परिवेश को खा जाने के लिए उत्प्लावित हैं। सम्पूर्ण संसार परमाणु के मुहाने पर खड़ा होकर विनष्ट हो जाना चाहता है और हम हैं कि विशुद्ध राजनीति से फुरसत नहीं पा रहे हैं।

कवि की भूमिका और कविता की शक्ल में परिवेश को जीना बहुत कठिन काम है। ऐसी स्थिति में तो और जहाँ कवि-मन में एक तरफ पहचान का संकट हो और दूसरी तरफ स्थायित्व की लालसा। समस्याएँ राजनीतिक हों या सामाजिक अथवा आर्थिक ही क्यों न हों हर व्यक्ति और स्थिति पर इनकी उपलब्धता की शिकन को महसूसा जा सकता है। दैनिक जरूरत और आवश्यकताओं की पूर्ति में उलझे हुए दिन प्रतिदिन मिलने वाले लोगों की संवेदनाओं को अपनी संवेदना और दु:ख-दर्द को अपना दु:ख-दर्द समझकर उनसे जूझना आसान नहीं है। इस कठिनता में भी कविता के लिए स्पेस निकालना और भी दुष्कर है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह समय अपने सम्पूर्ण अर्थों में संक्रमण का समय है। अनसुलझे और लगभग उलझे हुए मिश्रण का समय है। इसलिए 'किसी भी विषय पर कविता लिखने से पहले और लिखने से ज्यादा उस पर बोलने से पहले (आज के कवि कुछ हद तक लिख कम और बोल ज्यादा रहे हैं) आज के कवियों को एक बार आत्ममंथन जरूर कर लेना चाहिए।'

आत्ममंथन के स्थिति में ईर्ष्या के निचले स्तर से ऊपर उठने की जरूरत है। गाय, गोबर की राजनीति से हटकर जन-जीवन को सुन्दर बनाने की नीति पर काम करने की जरूरत है। कन्हैया के भाषण और उमर खालिद की आजादी से परहेज करते हुए खेतों और सडकों पर खटने वाले किसानों और मजदूरों के लिए कहने-सुनने की जरूरत है। राजनीतिक स्टंटबाजी के अतिरिक्त 'वे तमाम चीजें जिनमें हमारा हस्तक्षेप हो सकता था, वे हमसे याचना करती दिखाई पड़ती हैं, हम लगातार उन्हें विस्मृत करते चले जाते हैं। हमारी अधूरी इच्छाएं और हमारी स्वीकृतियां, हमारा लगातार संतप्त निजी अंतर्द्वंद्व और हमारे विचारों की ऊंचाई, हमारे इरादे और हमारे भीतर का आदिम अन्धकार, हमारे आदर्श और हमारे साधनों की सीमाएं, हमारी दुनियावी सफलताएँ और हमारी झूठी स्वैर्कल्पनाओं में जीने की थकी हुई इच्छाएं, हमारी अनवरत और अनिश्चित किश्म की उत्कंठित अन्यमनस्कताएं और हमारी सबसे स्पष्ट व्यावहारिकताएं-यही सब कुछ कविता का विषय बनता है।' यदि ऐसा कुछ कवियों से कहा भी जाता है तो संभव है वे नाराज हो जाएं और जनविरोधी करार देकर 'भक्त' विशेष की मंडली का अनुचर घोषित कर दें। जो कहें लेकिन अंतत: कवि को कवि की तरह पेश आने और कविता को कविता की तरह रहने देने की जरूरत है। यदि इस जरूरत पर अमल करते हुए कविता लिखने की प्रतिबद्धता दिखा सकते हैं तब तो हिंदी का विशाल पाठक समुदाय आपका स्वागत करेगा अन्यथा अभी तो प्रकाशक ही कविता को प्रकाशित करने से मना कर रहे हैं, बाद पाठक भी उपेक्षित करना शुरू कर देंगे।

अनिल कुमार पाण्डेय, शोधार्थी, हिंदी–विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ 160014
मो–8528833317, ई–मेल : anilpandey650@gmail-com

✧ ✧ ✧

डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की साहित्यिक पत्रकारिता और 'अवंतिका'

धनेश कुमार

'साहित्य' बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की पत्रिका है। बिहार साहित्य सम्मेलन की स्थापना 1919 ई. में हुई थी और उसी के तत्त्वावधान में हिंदी साहित्य और भाषा को प्रश्रय देने हेतु 'साहित्य' नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया गया था। डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने इस पत्रिका का संपादन 1936 ई. में आरंभ किया। इसमें इनका सहयोग बिहार के प्रसिद्ध कवि जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने किया। कल्याण कुमार झा के अनुसार-''एक वर्ष तक वे 'साहित्य' के संपादक के रूप में सक्रिय रहे। उन्होंने एक अग्रणी शोध पत्रिका के रूप में इसका विकास किया।

बिहार की साहित्यिक पत्रकारिता में डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने जिस पत्रिका का भी संपादन किया उसे साहित्य और शोध की गहन गरिमा प्रदान की है। उन्होंने अपने कई समकालीन साहित्यकारों को उत्कृष्ट साहित्य लिखने के लिए प्रेरित किया तथा कइयों को इसके लिए स्वयं आर्थिक सहायता भी प्रदान की। वे सच्चे अर्थों में एक समर्पित साहित्यकार थे। उनका राजनीति में होना भी हिंदी साहित्य और भाषा के लिए कई अर्थों में वरदान साबित हुआ। हालाँकि राजनीतिक व्यस्तता के कारण उन्होंने साहित्य लेखन बहुत कम किया परंतु साहित्य और हिंदी भाषा के लिए उन्होंने अपने पद और प्रभाव का लाभ उठाते हुए बहुत कुछ किया जिसका आज भी, खासकर बिहार का साहित्य ऋणी है।

हिंदी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा का दर्जा दिलाने में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। उन्हीं के प्रयासों का फल है कि आज हिंदी यहाँ तक पहुँच पाई है। हिंदी इतनी फल-फूल रही है। उनकी पत्रिका 'अवंतिका' में हिंदी भाषा से संबंधित उनके कई संपादकीय आलेख हैं जिससे हिंदी के प्रति उनकी निष्ठा और अटल प्रेम का पता चलता है।

कल्याण कुमार झा ने उनकी पत्रकारिता पर इस प्रकार टिप्पणी की है-''अपने समर्थ रचनाशील व्यक्तित्व से हिंदी आलोचना और बिहार की राजनीति को नई अर्थवत्ता देने वाले डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु

एक प्रखर पत्रकार भी रहे हैं। हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता को नई दिशा एवं जीवनदृष्टि देने वाले संपादकों में उनका नाम कफी सम्मान से लिया जाता है। सुधांशुजी की पत्रकारिता में वैचारिकता को एक सार्थक सर्जनात्मक आयाम मिला है। सुधांशुजी के लिए पत्रकारिता लोक जागरण का एक समर्थ माध्यम रही और साहित्य उनके लिए मनुष्यता की सच्ची कसौटी रहा है। यही कारण है कि उनकी संपादकीय दृष्टि साहित्य विधाओं तक सीमित नहीं रही है, बल्कि सुधांशुजीवन के प्रत्येक क्षेत्र का उन्होंने स्पर्श किया है।''1

सुधांशुजी ने विद्यार्थी जीवन में ही पत्रिकाओं का संपादन प्रारंभ कर दिया था। उन्होंने उस समय 'किशोर' और 'अशोक' नामक पत्रिकाओं का संपादन किया। परंतु उनकी साहित्यिक पत्रकारिता का आरंभ हिंदी साहित्य सम्मेलन की पत्रिका 'साहित्य' से होता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'राष्ट्र-संदेश', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् की 'परिषद्-पत्रिका' एवं 'अवंतिका' नामक पत्रिकाओं का संपादन किया। हिंदी पत्रकारिता में उनकी 'अवंतिका' का अन्यतम स्थान है। इस पत्रिका से साहित्य जगत में उन्हें काफी प्रसिद्धि मिली।

'साहित्य' बिहार हिंदी साहित्य सम्मेलन की पत्रिका है। बिहार साहित्य सम्मेलन की स्थापना 1919 ई. में हुई थी और उसी के तत्त्वावधान में हिंदी साहित्य और भाषा को प्रश्रय देने हेतु 'साहित्य' नामक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया गया था। डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु ने इस पत्रिका का संपादन 1936 ई. में आरंभ किया। इसमें इनका सहयोग बिहार के प्रसिद्ध कवि जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने किया। कल्याण कुमार झा के अनुसार-''एक वर्ष तक वे 'साहित्य' के संपादक के रूप में सक्रिय रहे। उन्होंने एक अग्रणी शोध पत्रिका के रूप में इसका विकास किया। उनके द्वारा संपादित 'साहित्य' के तीनों अंक अपनी प्रभूत शोध सामग्री और प्रखर संपादकीय दृष्टि के कारण उल्लेखनीय हैं। सुधांशुजी ने काशी विश्वविद्यालय से एम.ए. किया था। वहाँ योग्य आचार्यों के साहचर्य में उनकी आलोचना दृष्टि निर्मित हुई थी। एक कवि और कथाकार के रूप में भी वे अपनी पहचान बनाने के लिए निरंतर सक्रिय रहे। अत: उनके संपादक व्यक्तित्व में कारयित्री एवं भावयित्रे प्रतिभा का अद्‌भुत सामंजस्य था। 'साहित्य' के अंकों के अवलोकन के बाद यह बात स्वत: सिद्ध हो जाती है।''2

इस साहित्य पत्रिका का संपादन सुधांशु जी के अतिरिक्त बिहार के कई गणमान्य साहित्यकारों ने किया। जैसे-आचार्य बदरीनाथ शर्मा, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, आचार्य शिवपूजन सहाय आदि।

'राष्ट्र-संदेश' राष्ट्रीय विचारों की पोशक पत्रिका थी। इसका प्रकाशन पूर्णिया से 1939 ई. में सुधांशुजी द्वारा किया गया था। यह एक साप्ताहिक पत्र था और इसमें राष्ट्रीय या राष्ट्रवाद से संबंधित साहित्य का प्रकाशन किया जाता था। पं. रामजी मिश्र मनोहर के अनुसार-''श्री

---

1 परिषद-पत्रिका, लक्ष्मीनारायण सुधांशु अंक में संकलित कल्याण कुमार झा के लेख 'हिंदी पत्रकारिता और डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' से उद्‌धृत, वर्ष-40, अंक-3, दिसम्बर, 2000 पृ. 165

2 उपरिवत् पृ. 16

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के राजनीति में सक्रिय भाग लेने के बाद जिला कांग्रेस समिति ने 'राष्ट्र-संदेश' साप्ताहिक का प्रकाशनारंभ किया। इसके प्रथम संपादक सुधांशुजी ही रहे। सुधांशुजी के बाद इसके कई संपादक हुए। सन् 1942 में श्री प्रताप नारायण सिंह इसके संपादक हुए। इस पत्र ने अधिक दिनों तक जिले की स्वस्थ सेवा की।''3

'अवंतिका' डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की साहित्यिक पत्रकारिता का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह पत्रिका कई मायनों में श्रेष्ठ थी। इसका प्रकाशन नवंबर, 1952 ई. से शुरू हुआ तथा दिसंबर 1956 ई. तक चला। इस पत्रिका का मुख्य पृष्ठ रंगीन हुआ करता था जिसपर वाग्देवी की तस्वीर छपी होती थी।

'अवंतिका' के प्रकाशन के समय भारत महत्त्वपूर्ण दौर से गुजर रहा था। यह भारतीय इतिहास का संक्रांतिकाल था। देश को आजाद हुए मात्र पाँच वर्ष हुए थे तथा गणतंत्रता के मात्र दो वर्ष। यह भारत के नवनिर्माण का समय था। इसलिए तत्कालीन समय के दस्तावेज होने के कारण 'अवंतिका' का ऐतिहासिक महत्त्व भी है। यद्यपि यह पत्रिका अल्पकालिक ही रही तथापि इसमें हमें तत्कालीन भारत के अनेक रंग-रूप तथा विचार देखने को मिलते हैं।

जनवरी, 1954 ई. में 'अवंतिका' में 'काव्यालोचनांक' नाम से एक विषेशांक भी निकाला गया था जो अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण अंक है। इसमें आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों का गहन विवेचन किया गया है। इस अंक में कुल सैतालिस लेख शामिल किए गए थे जो हिंदी के विविध कवियों, काव्य-तत्त्वों एवं साहित्यालोचन के सिद्धांतों से संबंधित थे। इस अंक को सुधांशुजी ने पाठकों को समर्पित करते हुए लिखा।

'अवंतिका' में सुधांशुजी का संपादकीय लगभग आठ पृष्ठों का होता था। इसमें समसामयिक मुद्दों एवं समस्याओं पर उनकी सद्यः टिप्पणियाँ हुआ करती थीं। उन्होंने हिंदी भाषा समस्या, शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम का प्रश्न, भूमि-समस्या, पूंजीवाद, औद्योगीकरण, तत्कालीन राजनीति में कांग्रेस की भूमिका, चीन से दोस्ती की लहर, पंचशील की लहर, हिंदुस्तान और रूस से मित्रता की लहर, खुश्चेव व बुल्गानिन का भारत आना, एवरेस्ट अभियान के साथ पश्चिमी साजिश, भारतीय राजभाषा हिंदी, कश्मीर समस्या, नेपाल की समस्या आदि विषयों पर बड़ी बेबाकी से लिखा।

3 बिहार में हिंदी–पत्रकारिता का विकास, पं. रामजी मिश्र 'मनोहर', काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना–1998, पृ.160

'अवंतिका' में साहित्य की हर विधा को स्थान प्राप्त था। इसके कविता खंड में तत्कालीन श्रेष्ठ कवियों की कविताएँ छपती थीं। इसमें छपने वाले कवियों में महादेवी वर्मा, निराला, दिनकर, शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन, भारतभूषण अग्रवाल, मोहनलाल महतो 'वियोगी', त्रिलोचन, रामेश्वर शुक्ल अंचल, हंसकुमार तिवारी, रामकुमार वर्मा आदि शामिल थे।

'अवंतिका' में कहानियाँ और एकांकी भी छपा करती थीं। फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कंडेय, कमलेश्वर, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल आदि की कहानियाँ तथा जगदीशचंद्र माथुर, उदय शंकर भट्ट, नरेंद्र नारायण लाल आदि की एकाधिक एकांकी भी छापी गई।

उपर्युक्त विधाओं के अतिरिक्त 'अवंतिका' में सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, विज्ञान संबंधी, पुरातात्त्विक तथा साहित्यिक विषयों पर लेख भी निकलते थे। जैसे- पुराणों में वर्णित पवनों के प्रकार, दशमलव प्रणाली ही क्यों, हिंदुओं में जातियों की उत्पत्ति, व्यक्तित्व एवं उनके उपकरण, फ्रॉयड की खोज, संसार के तीन बड़े अखबार, आम की बागवानी, प्राचीन भारतीय मुद्राएँ, परिवार नियोजन: एक विश्लेषण, अमेरिका में वैवाहिक रीति, आयुर्वेद की उत्पत्ति आदि।

इस पत्रिका में 'कलाकार से साक्षात्कार' नामक स्तंभ में निराला, मैथिलीशरण गुप्त आदि के साक्षात्कार भी निकाले गए। इसके साथ ही 'कलाकार का आत्मसंस्मरण' के अंतर्गत श्री हरिनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी, रामेश्वर शुक्ल अंचल आदि के जीवन की झाँकी भी प्रस्तुत की गई।

'अवंतिका' में 'पाठकों के पत्र' नाम से एक स्तंभ होता था जिसमें पत्रिका एवं पत्रिका में छपी सामग्री पर पाठकों की टिप्पणियाँ छपा करती थीं। 'पुस्तकालोचन' स्तंभ में विभिन्न पुस्तकों की समीक्षा छपा करती थी।

जनवरी, 1954 ई. में 'अवंतिका' में 'काव्यालोचनांक' नाम से एक विषेशांक भी निकाला गया था जो अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण अंक है। इसमें आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों का गहन विवेचन किया गया है। इस अंक में कुल सैतालिस लेख शामिल किए गए थे जो हिंदी के विविध कवियों, काव्य-तत्त्वों एवं साहित्यालोचन के सिद्धांतों से संबंधित थे। इस अंक को सुधांशुजी ने पाठकों को समर्पित करते हुए लिखा।

''अवंतिका' के द्वितीय वर्ष का प्रथम अंक 'काव्यालोचनांक' के रूप में आपके सम्मुख प्रस्तुत है। यह विशेषांक जैसा कुछ बन पड़ा, हमने इस दिशा में एक प्रयत्न मात्र किया है। जहाँ एक ओर हमें इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि इस विशेषांक के लिए हमारे अनुरोध पर कृपालु विद्वान लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर हमें अनुगृहीत किया वहाँ दूसरी ओर हमें इस बात का बहुत खेद है कि अनेक विद्वान लेखकों की रचनाएँ इस अंक में कुछ देर से प्राप्त होने तथा सीमित स्थान होने के कारण, प्रकाशित न की जा सकीं। हम इसके लिए अपनी विवशता प्रकट करते हैं और उनसे

4 अवंतिका, काव्यालोचनांक, डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जनवरी, 1954, संपादकीय, पृ. 1

क्षमा याचना करते हैं। इस अंक के लिए आई हुई स्वीकृत रचनाओं को हम क्रम-क्रम से 'अवंतिका' के अगले अंकों में प्रकाशित करेंगे।''4

वैसे तो 'अवंतिका' में उस समय के प्रसिद्ध रचनाकारों की रचनाओं की ही बहुलता हुआ करती थी। परंतु ऐसा नहीं है कि इसमें केवल प्रसिद्ध रचनाकारों को ही स्थान दिया जाता था। इसमें नवोदित रचनाकारों को भी स्थान मिला और इसके माध्यम से कई नवोदित रचनाकार उभरकर कर सामने आए। असल में 'अवंतिका' में रचनाओं के छपने की कसौटी रचनाकर का व्यक्तित्व नहीं, उसका कृतित्व था। इसके संबंध में सुधांशुजी 'अवंतिका' के दिसम्बर, 1955 ई. के अंक में लिखते हैं-

''किसी भी पत्र-पत्रिका के प्रकाशन का ध्येय मात्र यही नहीं है कि उससे जन-जन में नई चेतना तथा सुरुचि का संचार हो, नई-नई प्रतिभाओं को सामने लाना भी पत्र-पत्रिकाओं का काम है। कौन जानता है-आज के नौसिखुए लेखक-कवि ही हमारे कल के महान साहित्य के स्रष्टा हों। आवश्यकता इस बात की है कि हम नए-नए उगते पौधों को उचित प्रकाश एवं विकास का अनुकूल वातावरण दें। उचित प्रोत्साहन के अभाव में अक्सर नई-नई प्रतिभाएँ कुंठित हो जाती हैं। हमने इस ओर भी काफी ध्यान दिया है, और कई नई प्रतिभाओं को साहित्य-संसार के समक्ष लाने की चेष्टा 'अवंतिका' ने की है। 'अवंतिका' में जहाँ एक ओर लब्धप्रतिष्ठ तथा कृतविद्य साहित्यकारों की सेवाएँ प्रकाशित होती रहीं, वहीं दूसरी ओर उगती हुई प्रतिभाओं को भी उचित प्रोत्साहन दिया गया है। सच तो यह है कि 'अवंतिका' में व्यक्ति को प्राथमिकता नहीं दी गई, रचनाएँ ही प्राथमिकता पाती रही हैं।''5

'अवंतिका' एक ऐसी पत्रिका थी जिसने अल्पावधि में ही जितनी साहित्य सेवा कर दी उतनी दीर्धाजीवि पत्रिकाएँ भी नहीं कर पातीं। यही कारण है कि उसका प्रत्येक अंक संग्रहणीय एवं पठनीय है। इसने न केवल एक साहित्यिक पत्रिका के रूप में अपना कीर्तिमान स्थापित किया, बल्कि अन्य पत्रिकाओं के लिए पत्रकारिता का एक आदर्श भी प्रस्तुत किया। यही कारण है कि परवर्ती कई पत्रिकाओं ने सुधांशु की संपादन शैली का अनुसरण किया। कल्याण कुमार झा के शब्दों में-

''सौ पृष्ठों की पत्रिका में आठ पृष्ठ संपादकीय के लिए सुरक्षित रहते थे। अलग-अलग विशयों पर संपादकीय अग्रलेख संक्षिप्त किंतु सारगर्भित होते थे। परवर्ती संपादकों ने इस पद्धति का अनुसरण किया। कथाकार राजेंद्र यादव द्वारा संपादित 'हंस' पत्रिका में यह प्रणाली आज भी देखी जा सकती है। (राजेंद्र यादव की मृत्यु के बाद वर्तमान में इसके संपादक संजय सहाय हैं।) इतना ही नहीं 'वागर्थ' जैसी महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका में भी 'अवंतिका' की तरह ही वैचारिक संपादकीय अग्रलेख जहाँ एक ओर हिंदी पत्रकारिता की विचार दृष्टि व्यंजित करते हैं वहीं दूसरी ओर इनसे साहित्य का फलक भी व्यापक होता है।''6

---

5 अवंतिका, डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', संपादकीय, दिसंबर, 1955 पृ. 8

6 परिषद्-पत्रिका, लक्ष्मीनारायण सुधांशु अंक में संकलित कल्याण कुमार झा के लेख 'हिंदी पत्रकारिता और डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' से उद्धृत, वर्श-40, अंक-3, दिसम्बर, 2000 पृ. 166

'अवंतिका' का बिहार की पत्रकारिता में ही नहीं, पूरे देश की पत्रकारिता में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस पत्रिका ने जिसप्रकार चार वर्षों तक हिंदी की साहित्य की सेवा की इससे इसके अल्पावधि में बंद हो जाने पर अफसोस होता है। संभवत: इस पत्रिका को जितना आर्थिक और राजनैतिक सहयोग मिलना चाहिए था उतना मिल नहीं पाया, इसलिए यह अल्पायु में काल-कवलित हो गया। इसके अल्पावधि में बंद हो जाने का एक कारण इसका शुद्ध रूप से साहित्यिक होना भी है। शुद्ध से साहित्यिक और बौद्धिक सामग्री के चलते इसका प्रचार-प्रसार केवल सुरुचिसंपन्न और विद्वान पाठकों के बीच ही रहा।

पत्रिका प्रकाशन के स्थगन की सूचना देते हुए 'अवंतिका' के अंतिम अंक में सुधांशुजी ने लिखा-

''बहुत खेद के साथ सूचित करना पड़ता है कि 'अवंतिका' के प्रस्तुत अंक के बाद, कुछ अनिवार्य कारणों से, इसका प्रकाशन स्थगित किया जा रहा है। जिस आशा और उल्लास के साथ हमने 'अवंतिका' का प्रकाशन आरंभ किया था और राष्ट्रभाषा हिंदी के विशाल क्षेत्र में साहित्य-निर्माण की जिस महत्त्वाकांक्षा के साथ हमने प्रवेश किया था, वह न्यूनाधिक मृगमरीचिका ही प्रमाणित हुई। हाँ, अवश्य ही यह संतोष और प्रसन्नता की बात है कि चार वर्षों की इस छोटी-सी अवधि में ही हिंदी जगत में 'अवंतिका ने अपना एक स्थान बना लिया था, किंतु स्थान बना लेने के बाद दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह राष्ट्रभाषा हिंदी के दुर्भाग्य से हमें पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं हो सकी। हम अपनी महत्त्वाकांक्षा के पोषण में पूर्णरूप से समर्थ नहीं हो सके। हमारी सेवाएँ अल्प भले ही रही हों, किंतु वे तुच्छ तथा नगण्य नहीं थीं। आज जिस वेदनापूर्ण हृदय से 'अवंतिका' के प्रकाशन को स्थगित करने के लिए बाध्य हो रहे हैं, हम यह विश्वासपूर्वक मानते हैं कि हमारी वेदना के प्रति 'अवंतिका' के ग्राहकों, अनु-ग्राहकों, लेखकों, कवियों तथा प्रशंसकों की हार्दिक अनुकंपा है। उनकी इस अनुकंपा का हम हृदय से आदर करते हैं और उनकी इस भावना के महत्त्व को समझकर ही हमने 'अवंतिका' का प्रकाशन सदा के लिए बंद न कर, कुछ दिनों के लिए स्थगित करने का विचार किया है। अनुकूल परिस्थिति आते ही 'अवंतिका' का प्रकाशन प्रारंभ कर दिया जाएगा।''7

सुधांशुजी ने इसे पुन: प्रकाशित करने का आश्वासन तो दिया था लेकिन संभवत: 'अवंतिका' के पुन:प्रकाशन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं बन पाई और फिर से 'अवंतिका' प्रकाशित नहीं हो सकी।

---

7 अवंतिका, डॉ. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', नवंबर–दिसंबर, 1956, संपादकीय, पृ. 357

धनेश कुमार, शोधार्थी, मगध विश्वविद्यालय

मीठा कुछ ढंग का

राम नगीना मौर्य

''आप तो जानते ही हैं अपने बच्चों को, और भली-भाँति वाकिफ भी हैं उनकी आदतों, और विलक्षण-प्रतिभा ? से। मीठा या नमकीन...घर में कुछ भी नहीं छोड़ते। कहीं भी छुपा कर रखिये, किसी न किसी जुगत ढूँढ़ ही निकालते हैं, और नजर बचाकर कब सब सफा-चट कर जाते हैं, हम जान ही नहीं पाते। आप ही की तरह इन्हें भी तो इण्ट्रेस्ट है, जासूसी धारावाहिक... उपन्यास आदि देखने...पढ़ने का, जिन्हें देखते-पढ़ते ये कुछ ज्यादा ही खोजी-प्रवृत्ति के हो गये हैं... पता नहीं, आगे चल कर ये भी आप ही की तरह होंगे या कुछ ढंग का काम भी करेंगे...? और हाँ...कोशिश करियेगा आज जरा जल्दी ही घर आने की भी।''

''दूर है किनाऽराऽऽ...खेते जाऽओ रेऽ''...दफ्तर में बैठा था कि अचानक ही मेरे मोबॉयल का सिंग-टोन गूँजा। देखा...पत्नी का फोन था... ''सुनिये जी...आज शाम को घर पर कुछ मेहमान आने वाले हैं...दिल्ली से। आज सुबह ही फोन आया था उनका, पर उस समय आप रास्ते में ही रहे होंगे, इसीलिए स्कूटर ड्राइविंग के समय, फोन पर मैंने आपको डिस्टर्ब करना उचित नहीं समझा।''

ये पूछने पर कि ''कौन आने वाले हैं...?''

मेरे सामान्य से इस प्रश्न का उत्तर देने के बजाय पत्नी ने मेरी कौतुहलता बढ़ाते, अपने खास पिच और टोन में कुछ यूँ उवाचा।

''अभी नहीं बताऊँगी...सरप्रॉइज है...आप खुद ही बूझिये कि कौन आने वाले हैं...वैसे खास हैं, अभी बस्स इतना ही 'क्लू' दे सकती हूँ।''

''फिर भी...?'' जाहिर है...अपनी जिज्ञासा के त्वरित समाधान कि दिशा में मैंने पुनः एक संक्षिप्त...परन्तु असफल सा प्रयास करना चाहा।

''अच्छा छोड़िये... शाम को घर आने पर आप खुद ही देख लीजियेगा...कि कौन लोग हैं. ..और हाँ, वो लोग सपरिवार आ रहे हैं। बहुत दिनों बाद हमारे यहाँ आ रहे हैं... अपने गाँव जा रहे हैं और आज रात हमारे यहाँ ही ठहरेंगे। सुबह तड़के ही उनकी ट्रेन है। बड़े लोग हैं... पैसे वाले हैं, सो घर लौटते वक्त ढंग का कुछ

मीठा जरूर ले लीजियेगा। काहे कि बिस्किट-नमकीन तो अब कॉमन सी चीजें हो गयी हैं, और वैसे भी अभी घर में, मीठे-नमकीन में कायदे का कुछ भी नहीं है।''

''अभी पिछले हफ्ते ही तो चौक से लौटते वक्त, मठरी-बिस्कुट-नमकीन वगैरह ले आया था...क्या उसमें से कुछ भी नहीं बचा...?''

''आप तो जानते ही हैं अपने बच्चों को, और भली-भाँति वाकिफ भी हैं उनकी आदतों, और विलक्षण-प्रतिभा? से। मीठा या नमकीन...घर में कुछ भी नहीं छोड़ते। कहीं भी छुपा कर रखिये, किसी न किसी जुगत ढूँढ़ ही निकालते हैं, और नजर बचाकर कब सब सफा-चट कर जाते हैं, हम जान ही नहीं पाते। आप ही की तरह इन्हें भी तो इण्ट्रेस्ट है, जासूसी धारावाहिक... उपन्यास आदि देखने...पढ़ने का, जिन्हें देखते-पढ़ते ये कुछ ज्यादा ही खोजी-प्रवृत्ति के हो गये हैं... पता नहीं, आगे चल कर ये भी आप ही की तरह होंगे या कुछ ढ़ंग का काम भी करेंगे...? और हाँ... कोशिश करियेगा आज जरा जल्दी ही घर आने की भी।''

''अऽरे...भई मेरे जल्दी कोशिश करने से कुछ नहीं होता। यहाँ कब कौन सा, महत्वपूर्ण काम आ जाये, कोई नहीं जानता।''

''और...आज आप अपनी बरसाती भी घर पर ही छोड़ गये हैं...लौटते वक्त बूँदा-बाँदी होने लगी तो क्या करेंगें...आँय...?''

''कुछ नहीं...भींगते हुए ही आयेंगे...। घर लौटते वक्त बारिश में भींगने का मजा ही कुछ और है। खैर छोड़ो, ये तुम क्या जानो। आगे ऊपर वाले की मर्जी...!''

''अऽरे...हम आपको बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि बारिज़ में जब भींगते हुए घर आते हैं तो क्या नाटक करते हैं...'कोई है...अरे भई तौलिया ले आओ...मेरी ये पैण्ट-शर्ट जल्दी अलगनी पर फैलाओ...भींगे हुए जूते भी उठा कर आँगन में ले जाओ...मेरा पर्स-मोबॉयल जल्दी से किसी सूखे कपड़े से पोंछो...अऽरे भई कोई यहाँ आकर खड़ा क्यों नहीं होता...अऽरे भई, कोई कुछ सुनता क्यों नहीं...?' हमें क्या पता नहीं है आपकी ये सब नाटकबाजियाँ?''

जाहिर है...दो टूक में उत्तर देने के बजाय...बच्चों और मेरी आदतों पर लानत-मलामत करते, मेरी प्रश्नाकुलताओं की धर कुन्द करते, थोड़ा बुजुर्गाना लहजे में, या समझाने की मुद्रा अपनाते कह लीजिए, पत्नी ने अपना रूख पूर्ववत...प्रश्नवाचक बनाये, आने वाले मेहमान के बारे में रूख, रहस्यमय ही बनाये रखा।

आगे बताने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि पत्नी के ऐसे तेवर और मिजाज के आगे मैं हाल-फिलहाल-बहरहाल निरूत्तर ही था। हमारे बीच फोन पर वार्तालाप समाप्त हो गयी, वो भी बिना किसी निष्कर्श के...।

कौन हो सकता है...? काफी देर तक मन इसी उधोड़-बुन में लगा रहा। दिलो-दिमाग में उसी के अनुरूप मंथन भी चलता रहा, पर काम-काज की व्यस्तता में उद्वेलित मन कब शान्त हो

गया...कुछ पता ही नहीं चला।

शाम को ऑफिस से निकलने में मुझे कुछ ज्यादा ही देर हो गयी थी, सो जल्दी-जल्दी काम-काज निबटाने के चक्कर में घर वापस लौटते समय भूल ही गया कि आज घर पर कुछ खास मेहमान आने वाले हैं और उनके लिये शाम को ले चलना है घर पर...मीठा कुछ ढ़ंग का।

शाम को घर लौटते वक्त हल्की बूँदा-बादी भी शुरू हो गयी थी, पर मैंने रूकना मुनासिब नहीं समझा। हालाँकि ये बूँदा-बाँदी थोड़ी दूर आगे चलने पर ही बन्द हो गयी।

बताता चलूँ...अमूमन दफ्तर से घर लौटते वक्त, यदि बारिश हो रही हो तो मैं भींगने से बचने वास्ते कहीं किसी मुफीद ओट की तलाश में रास्ते में रूकने के बजाय, अपने पर्स-मोबॉयल आदि स्कूटर की डिग्गी के हवाले करते, भींगते हुए ही घर पहुँचना उचित समझता हूँ। आखिर घर पहुँच कर कपड़े तो बदलने ही होते हैं।

वैसे...मैं भी इस कहावत का मुरीद हूँ...'बिहाने का झगड़ा...साँझ की बरखा...' जल्दी खत्म नहीं होते। हाँ...सुबह-सुबह दफ्तर जाते समय यदि बारिश होने लगे तो जरूर भींगने से बचने का प्रयास करता हूँ...काहे से कि फिर दिन-भर गीले कपड़ों में भींगे बदन काम करने से बीमार होने की भी सम्भावना रहती है। भींगे बदन काम करने में पूरे दिन उलझन भी तो बनी रहती है।

घर पहूँचते ही मैंने देखा कि सड़क की दाँयीं पटरी पर बिलकुल घर के सामने ही लम्बी-चौड़ी लाल रंग की एक टैक्सी खड़ी है। अचानक जैसे बिजली का एक झटका सा लगा, याद आया...अरे! आज तो खास मेहमान आये होंगे घर पर, और पत्नी ने तो दफ्तर से लौटते वक्त कुछ ढ़ंग का मीठा...लाने को भी कहा था...पर मीठा लाना तो भूल गया...अब क्या होगा...? इतनी रात गये, कुछ ढ़ंग के मीठे की बात तो दूर...अब इस समय तो आस-पास कहीं कुछ हल्का-फुल्का...भी मिलना मुश्किल है। मन झट से दुविधा में पड़ गया। यक-ब-यक ही मेरे समक्ष गम्भीर धर्म-संकट की स्थिति आ गयी।

पर अभी दिमाग पर हल्का सा ही जोर दिया होगा कि अचानक ही एक बिजली सी चमकी मन-मस्तिश्क में, और दूर कहीं तिमिर के छँटते ही जैसे मिहिर के दर्शन हुए हों। दिमाग का 'सी. एफ.एल.' अकस्मात् ही जल उठा। जैसे यक-ब-यक ही किसी ने उसे 'स्विच-ऑन' कर दिया हो। सोचा...मेहमान यदि खास हैं तो उन्होंने भी तो कुछ सोचा होगा कि जा रहे हैं अपने किसी नजदीकी रिश्तेदार के घर, वो भी एक लम्बे अरसे के बाद। खाली-मूली हाथ हिलाते...मुँह उठाये, ठीक नहीं होता कहीं भी, यूँ ही मेहमान बन कर चले जाना। भली-भाँति वाकिफ होंगे वो भी इस दुनियावी सिद्धान्त से। सोचा जरूर होगा उन्होंने भी कि लेते चलें हमीं...मीठा कुछ ढ़ंग का।

बड़े लोग जो ठहरे, ऊपर से बड़े शहर के रहवासी भी। बड़े लोगों की तो हर बात ही निराली होती है। उनका चलना-फिरना...उठना-बैठना...खाना-पीना...कहीं भी आना-जाना...किसी से भी बोलना-बतियाना इत्यादि सभी-कुछ एकदम 'हट-के-इफेक्ट' लिये हुए होता है। लाये जरूर होंगे वो लोग ही...मीठा कुछ ढ़ंग का। वो भी कुछ हट के। सो उसी से चल गया होगा काम, आज के

मीठे का।

तमाम आशंकाएं यक-ब-यक ही धवस्त हो गयीं। अश-अश कर बैठा अकस्मात् ही अपने दिमाग में आये इस ब्रिल्लिएण्ट-ऑइडिया पर। चमक जो आ गयी थी, अचानक ही धुँधलायी सी आँखों में। यहाँ पृथक से बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिये कि मन-मस्तिश्क में आये ऐसे आकस्मिक सुविचारों से, मेरी 'बॉडी-लैंग्वेज' में भी तत्क्षण ही अभूतपूर्व और आमूल-चूल परिवर्तन तारी होने लगे थे।

अपनी खोपड़ी में ऐन वक्त पर आये इस ताजातरीन और धड़ाम-धकेल ऑइडिया पर मन-ही-मन मुस्कियाते, आँखों-आँखों में ही अपनी पीठ, दो-तीन बार ठोंक डाली। कारण कि कधों में दर्द के कारण, हाथ सुचारू रूप से पीठ तक पहुँच नहीं पाता। पर तुरन्त ही इस अप्रत्याशित-परिवर्तन से प्रभाव-मुक्त हो, प्रकृतिस्थ भी हुए।

अपने धुँवाये चश्में का शीशा साफ किया, मुँह की भाप देकर। इत्मिनान से पोर्च में एक किनारे अपनी स्कूटर को स्टैण्ड पर लगाया। हेलमेट उतारते, स्कूटर के सॉइड-मिरर में देखते, आदतन, फितरतन या इरादतन कह लीजिए, अपने बालों को भी ठीक किया। विचारों की आपाधापी...मन-मस्तिश्क में चल रहे अर्न्तद्वन्द्वके बीच खुद पर काबू पाते...यही सब कुछ सोचते-गुनते आगे बढ़ कर, आत्मविश्वास से लबरेज...अति-उत्साहवश...डोर-बेल के बजाय, झट दरवाजे का सांकल ही खटखटा बैठा।

जाहिर है...हमेंशा की तरह, पर उम्मीद के विपरीत, थोड़ा कनखियों मुस्कियाते, पत्नी ने ही दरवाजा खोला...? वजह शायद घर आने में मेरा अप्रत्याशित विलम्ब हो या घर में आये वो खास मेहमान-जन हों। बहरहाल कुछ भी हो...अपन भी पूरी तरह चाक-चौबन्द थे, जिरह-बख्तर सहित.. मोर्चा संभालने वास्ते। तैयारी ये भी थी कि प्रभावित नहीं होऊँगा किसी भी तरह के लटकों-झटकों से, और ढ़ंग का मीठा न लाने के लिए, प्रश्नकर्ता को तुरन्त ही अर्दब में ले लूँगा, काम-काज की आपाधापी या कार्याधिक्य का टेंशन बताकर।

सो उत्साह से लबरेज हो, पूरे कॉन्फिडेण्ट से घर में प्रवेश किये, सारी आशंकाएं निर्मूल साबित हुईं। पत्नी ने कुछ भी नहीं पूछा। पत्नी को अपना बैग, स्कूटर की चाभियों का गुच्छा और पर्स थमाते सीधे ड्राइंग-रूम में ही प्रवेश किया, और मुखातिब हुए ड्राइंग-रूम में बैठे उन खास मेहमानों से। हॉय-हलो...हाल-चाल, आदि की सर्व-प्रचलित...चिर-परिचित औपचारिकताओं के बाद ढ़ेर सारी बातें भी हुईं, जिनमें अपनी और उनके बचपन-जवानी-बुढ़ापे की बातें थीं...तो कुछ इधर-उधर की भी, जैसे...,

''इतनें दिनों बाद कैसे आना हुआ...कब आये...इतनी देर कैसे हो गयी...?''

''रिजर्वेशन तो रहा ही होगा...ट्रेन में भींड़-भाड़ कैसी थी...?''

''किसी प्रकार की कोई दिक्कत तो नहीं हुई यहाँ तक आने में...?''

''तंग गली के इस मुहल्ले में बिलकुल एण्ड पर स्थित हमारे मकान को ढूँढ़ने में कोई

परेशानी तो नहीं हुई...?''

''लल्ली अबकी किस क्लॉस में गई है...?''

''पम्मी तो शादी करने लायक हो गयी होगी...?''

''कप्पू क्यों नहीं आये...पप्पू के इम्तिहान कब खत्म हो रहे हैं...?''

''दिल्ली में तो इतने मच्छर नहीं लगते होंगे...?''

''आजकल क्या कुछ नया...लिख-पढ़ रहे हैं...?''

''आप को क्या लगता है...चुनाव में क्या सम्भावना बन रही है...?''

''छैलबिहारी चाचा के क्या हाल हैं...?''

''अब तो गाँव आना-जाना लगभग न के बराबर ही हो गया होगा...?''

वगैरह-वगैरह ढ़ेरों सुलगते सवाल...और उनके उलझते जवाब। कभी अनुत्तरित से प्रश्न तो कभी लाजवाब करते उनके उत्तर।

इसी बीच पत्नी ने अरवी/घुइयां के पत्तों से बने पकौड़ों का प्लेट, और चाय आदि बच्चों के हाथ, हमारे सामने भिजवा दिया। पकौड़े खाते हम दोनों जन थोड़ी देर पकौड़े के स्वाद, उससे मिलने वाले वसा-प्रोटीन्स-विटामिन्स आदि पर व्याख्यान देते रहे।

मैंने गौर किया कि बातचीत के दौरान, पकौड़े खाते-खाते, बीच-बीच में वो खास मेहमान महाशय अपनी जाँघे भी खुजलाते जा रहे थे। अचानक हमारी नजरें दो-चार हुईं तो वो ही कुछ-कुछ खिसियाते हुए मूल विशय से यूँ विचलित हुए...''भाई-साहब बारिश के मौसम में पसीने और उमस में ज्यादा देर तक कपड़े पहने रहने से दाद-खाज की वजह से खुजली जैसा होने लगता है...हें-हें-हें।''

''हाँ...सो तो है...अब मौसम पर किसका वश चलता है...क्या करेंगे आप भी...सिवाय खुजलाने के...हें-हें-हें।'' चूँकि मुझे उनके इस अयाचित प्रहसन में कोई खास दिलचस्पी नहीं थी, सो मैंने अपने तईं, उन्हें संक्षिप्त उत्तर देना ही उचित समझा।

बाद इस चाय-पानी और धुंआँ-धार प्रश्नोत्तर चरण के, कुछ हल्की-फुल्की औपचारिक बातचीत भी हुई, जो मुख्यरूप से हमारे सेहत से ही जुड़ी थी।

इस प्रश्नोत्तर-खण्ड में, बढ़े हुए सुगर को कण्ट्रोल करने, कॉन्स्टिपेशन दूर करने के उपायों और हाई ब्लड-प्रेशर में पथ्या-पथ्य खाद्य-पदार्थों की जानकारियों का भी कहीं सूक्ष्म तो कहीं बृहद रूप से आदान-प्रदान हुआ।

बात-विमर्श के अंतिम-चरण की इस संक्षिप्त...? सी कवायद के बाद हम-सब-जन लग गये रोजमर्रे के अपने-अपने अति-आवश्यक कार्यों में।

बच्चे, उनके बच्चों संग कम्प्यूटर-गेम में। पत्नी, उनकी पत्नी संग 'किचन' में और मेहमान-पहुना घुस गये बेडरूम से ही अटैच बने हुए बॉथरूम में, जाहिर है निबटने के लिये, और मैं भी, जैसा कि ऐसे मौकों पर हमारे यहाँ प्रयुक्त होता है, कभी-कभार इस्तेमाल किया जाने वाला, सीढ़ियों के नीचे बना बॉथरूम। मैं भी सीढ़ियों के नीचे बने अपने उस बॉथरूम में घुस गया...लघु

से दीर्घ तक की शंकाएं इत्यादि मिटाने वास्ते।

हाथ-मुँह धो कर...'बॉथरूम' से निकलने के बाद...कपड़े-लत्ते आदि बदल कर, ड्राइंग-रूम में, मेहमान संग...टी.वी. के आगे, जो मुझसे कुछ देर पहले ही आकर सोफे पर जम गये थे, उन्हीं के बगल में सोफे पर मैं भी रिमोट लेकर पसर गया और चैनल बदलते, टी.वी. पर आ रहे कार्यक्रमों को देखता-सुनता रहा।

हर चैनल पर कुछ-न-कुछ...? आ ही रहा था।

एक चैनल पर तेज बारिश के बाद बरसाती पानी से ऊनते नालों के कारण, सड़क पर घुटनों तक पानी के बीच निकलते पैदल यात्रियों, दुपहिया-चौपहिया वाहनों की लम्बी कतारें दिखीं। हालाँकि सड़कों पर ऐसे जाम के दृश्य अब तो आम हो गये हैं।

अगले 'चैनल' पर प्रतिष्ठित प्रतियोगी परीक्षाओं में, अभावग्रस्त घरों के बच्चों की, प्रतियोगी परीक्षाओं में मिली अभूतपूर्व सफलता के बारे में कार्यक्रम दिखाया जा रहा था। कार्यक्रम रोचक लगा...सो इस चैनल पर थोड़ी देर रूक कर इस कार्यक्रम को देखने-सुनने की गरजवश मैंने हाथ में लिए रिमोट को अब अपने सामने के सेण्टर-टेबल पर ही रख दिया।

उस कार्यक्रम के खत्म होते ही, अब रिमोट मेहमान के हाथों में था। 'चैनल' बदलते वे एक चैनल पर थोड़ी देर के लिए रूके। किसी विशय पर तीन-चार प्रतिभागियों के मध्य किसी विषय पर जोर-दार परिचर्चा चल रही थी, पर ठीक से कुछ भी साफ-साफ सुनाई नहीं दे रहा था। सभी अपने-अपनी कह रहे थे, कोई किसी की बात सुनना नहीं चाह रहा था। इसीलिए बातचीत का विषय ठीक से स्पष्ट नहीं हो पाया कि...दरअसल मुद्दा क्या था?

''कुछ मुद्दों पर तो विश्वास का ऐसा टोटा है कि छोटे-से-छोटे मसले पर भी इस कदर भ्रम फैला दिया जाता है...तिल का ताड़ बना दिया जाता है कि हम सही और गलत के बीच ठीक से अन्तर ही नहीं कर पाते।'' टी.वी. पर चल रहे 'डिबेट' पर मेहमान ने त्वरित, परन्तु काबिले-तारीफ टिप्पणी की।

''बेसिकॅली, दिक्कत वहाँ नहीं है, जहाँ बताया जा रहा है। दिक्कत कहीं और है...इन्सान के वश का तो बस इतना ही है न कि उसे जो जिम्मेदारी मिली है, वो उसे पूरी निष्ठा से निभाता रहे। बाकी कर्म-फल पर किसका अख्तियार है...?'' मैंने भी प्रतिक्रिया-स्वरूप उनसे कुछ यूँ सहमति जताई।

बताता चलूँ...टी.वी. देखने-सुनने के साथ-साथ ही मैं उन खास मेहमान की विदेश दौरे सम्बन्धी, बोरियत भरी बड़ी-बड़ी बातें भी सुनता रहा, और बीच-बीच में यके बाद दीगरे...उनके दिलचस्प से तकिया-कलाम भी...सुनता रहा...,

''और सुनाइये...?''

''सो तो है ही...।''

''काऽ कर सकते हैं...आँय...?''

(नोट- खास मेहमान के ये सारे तकिया-कलाम इत्यादि बातें...अपनी याददाश्त के आधार पर उल्लिखित किये जा रहे हैं। वैसे सर्व-समावेशी नजरिये देखा जाय तो...बातचीत में उन्होंने और भी दिलचस्प बातें कही होंगी। पर यहाँ...स्मृति-पटल पर जोर देने के वाबजूद, समय और स्थान की कमी के कारण उन सभी का यहाँ विस्तार से उल्लेख किया जाना अभी सम्भव भी नहीं है।)

आइये अब आगे बढ़ते हैं...।

मेरा मन-मयूर भी कहाँ सुख-चैन से दो घड़ी भी बैठ पाया...जब तक कि मन-मुआफिक, ढ़ंग के उस मीठे को देख कर अपने तईं तस्दीक न कर लूँ। मुझे भी सुकून कहाँ था। मन तो अटका रहा...खोजने में ही लगा रहा...जब-तक कि घर के कोनों-अंतरों में ढूँढ़ नहीं लेता...मीठा कुछ ढ़ंग का।

''आप क्या खायेंगे...पहुना को तो पूड़ी के साथ कोंहड़े और लोबिया की सब्जी बहुत पसन्द है...भाभीजी बना भी रही हैं...पर आपको तो गठिया-हवा-बतास में बादी सब्जी नुकसान करती है, आप भी वही खा लेंगे या आपके लिये कुछ अलग से...जैसे...करेले या भिण्डी की सब्जी भी बना दूँ?''

जाहिर है...प्रचलित मान्यतानुसार...एक पत्नी द्वारा, एक पति से दुनिया का ये सबसे कठिन प्रश्न पूछा गया था...जो मूलत:...'प्रश्न के लिए पूछे गये प्रश्न के मानिन्द था।' वास्तव में ये कोई प्रश्न था ही नहीं...सो ऐसे में प्रश्नोत्तर का सवाल ही कहाँ पैदा होता है।

''मेहमानों के लिये जो कुछ भी बना होगा, मैं भी वही खा लूँगा...।''

जाहिर है...औपचारिक सामाजिकता के नाते...ऐसे मौंकों पर एक पति से ऐसे ही सुविचारित-मतनुमा उत्तर की अपेक्षा की जाती है...'बिना प्रत्युत्तर की आशा में दिया गया उत्तर।'

इस अति-सूक्ष्म...विचार-विनिमय, या कह लीजिए प्रश्नोत्तर-चरण के उपरान्त पत्नी पुन: 'किचन' में जा लगी। यद्यपि की उम्मीद के विपरीत, पत्नी ने भी मीठे के लिये मुझे टोका नहीं था... सोचा...शायद याद ही न आया हो उसे भी, ढ़ंग के मीठे का, या हो-न-हो मेहमान ने ही कर दिया हो समाधान...ढ़ंग का मीठा लाने का, और फिर मैंने याद भी तो नहीं दिलाया था पत्नी को, कि भूल गया हूँ लाना...मीठा कुछ ढ़ंग का।

फिर भी...ढ़ेरों सुविचारों, शंकाओं, आशंकाओं में अन्तर्गुम्फित...मेरा मन-अनन्त, एक-पल भी कहाँ सुख-चैन से बैठ पाया। उस ढ़ंग के खास मीठी सी चीज को खोजे बिना, मोहे कहाँ कल-छल...और कहाँ आराम...?

कुछ सोच...अपने हाथ में लिये 'रिमोट' को, साथ बैठे उस खास मेहमान को पकड़ाते...

''अभी आया भाई-साहब...'' ये कहते वहाँ से लॉबी में आ गया और लग गया अपने चिर-परिचित अभियान ? में। किचन में, बेड-रूम में, ड्राइंग-रूम की ऑलमारी में, स्टोर-रूम में, स्टडी-रूम में, कहाँ-कहाँ नहीं खोजा। देर तक खोजता रहा घर के कोने-अँतरों में भी इधर-उधर, कि कहाँ रख दिया गया होगा...मेहमान का लाया वो...मीठा कुछ ढ़ंग का।

इसी उम्मीद में दो बार किचन में भी गया, जहाँ किचन में मेरी पत्नी और मेहमान की पत्नी अपने-अपने शहरों में, खाने-पीने की चीजों के दामों की चर्चा में इस कदर मज़गूल थीं कि उन्होंने असमय ही मेरे वहाँ आगमन का संज्ञान ही नहीं लिया।

मेरी इन खोजी हरकतों पर उन दोनों में से किसी का भी ध्यान न जाने का कारण, शायद हमारा कन्जॅस्टेड-किचन भी हो सकता है, जिसमें दो भारी-भरकम व्यक्तित्व? यदि पहले से ही मौजूद हों तो किसी तीसरे का प्रवेश सम्भव नहीं, और ताका-झाँकी की गुंजायज़ तो कत्तई सम्भव नहीं।

चूँकि प्रचलित मान्यताओं के अनुसार, इन्सान हमेंशा से ही परिस्थितियों का दास रहा है, और ताजा स्थिति एवं तात्कालिक देश-काल-परिस्थितियाँ वहाँ एक पल भी रूकने की इजाजत नहीं दे रही थीं, सो मैंने वहाँ से झट खिसकना ही उचित समझा। ऐसे में मीठे की खोज में पत्नी को बिलावजह ही डिस्टर्ब करना उचित न समझते हुए किचन से बाहर आ गया।

किचन से बाहर आते हुए डॉयनिंग-टेबल पर बेतरतीबी से रखी चीजों...यथा, अचार-जैम की शीशी, बच्चों की किताबें-पेंसिल-पेन, चाभियाँ लगीं दो-तीन ताले, कृत्रिम फलों की टोकरी, बगल में ही रखे पाँच-छः असली केले, और उसी के बगल में रखा एक स्क्रू-ड्रॉइवर-एक प्लॉयर्स, डॉयनिंग-टेबल के बगल में ही लगे स्विच-बोर्ड के सहारे चार्जिंग में लगे मेहमानों के तीन बड़े से स्मॉर्ट-फोन, दो-तीन दवाइयों के स्ट्रिप्स, और एक टॉर्च..., पर भी एक उड़ती निगाह दौड़ाई, मगर वहाँ भी कहीं...आसपास ऐसा-वैसा कुछ भी नजर नहीं आया, जो आभास दे अपने होने का...मीठा कुछ ढ़ंग का।

वाबजूद...अक्ल के तमाम घोड़ों को चहुँओर दौड़ाने के, असफल ही रहा...आला दर्जे के उस खास मीठे...? को ढूँढ़ने में। पूरे घर में जहाँ कहीं भी सम्भावना हो सकती थी, आधे-पौन घण्टे के अथक और भगीरथ प्रयास के बाद भी, अपने अगल-बगल भी, कोई झोला-ओला...कोई डिब्बा-सिब्बा, यत्र-तत्र-अन्यत्र कहीं कुछ भी नहीं दिखा...जो लुक में लगे एकदम डिफरेण्ट सा... ? या भ्रम दे अपने...ढ़ंग के मीठा होने का।

फिर सोचा...शायद पत्नी ने ही रख दिया होगा सहेज कर सात-तालों के भीतर कहीं। स्मरण हो आया होगा शायद उन्हें भी, अपने बच्चों की कोलम्बसी-प्रवृत्ति का, आखिर खास मेहमान का लाया जो होगा वो...मीठा कुछ ढ़ंग का।

बतर्ज...'जिन ढूँढ़ों तिन पाइयाँ...' ढूँढ़ने के इस क्रम के अपने अन्तिम उपक्रम में जब 'फ्रिज' खोला तो वहाँ भी उम्मीद की शक्ल में कोई विशिष्ट डिब्बेनुमा संरचना आदि, या कुछ

सन्तोशजनक सा नहीं दिखा, सिवाय दो-चार पानी की बोतलों के...कुछ साग-सब्जियों के... मक्खन-जैम-अण्डों के...ब्रेड के लगभग आधे खत्म से एक पैकेट के।

मीठा होता तब न दिखता कहीं...मिलता कहीं। अब मौंका और मौंके की नजाकत को देखते हुए, खुल कर कुछ पूछ भी तो नहीं सकता था पत्नी से...किसी बहाने...या 'सो-कॉल्ड एटिकेट्स' के नाते...उस ढ़ंग के मीठे के बाबत।

हालाँकि ये भली-भाँति जानते हुए भी कि किसी भी प्रकार के उलझनों का हल हमें, संवाद-परिसंवाद से ही मिल सकता हैं...पर यहाँ किससे संवाद हो? और फिर परिसंवाद की गुंजायश तो दूर-दूर तलक नहीं दिखाई दे रही थी।

खैर...मैंने ज्यादा देर तक इस उलझन में अपना सिर खपाना उचित न समझते...मन मसोसते, पुनः ड्राइंगरूम में लौट आया, और...'जैसे उड़ि जहाज की पंछी फिर जहाज पर आयो...', की तर्ज पर वापस आकर उसी सोफे पर अब ऋषि-भाव बैठ गया...जाहिर है...अपनी पुरानी खाली जगह पर ही, और अपने आरी-बगल झाँकते, सेण्टर-टेबल पर पड़े रिमोट जिस पर एक बरसाती कीड़ा टहल रहा था, उसे मुँह से फूँक मारते हटाते, रिमोट उठा कर मैं अब अनमने ढ़ंग से टी.वी. के चैनल्स बदलने लगा।

उसी मध्य मैंने ये भी गौर किया कि तब-तक वो खास मेहमान भी सोफे पर बैठे-बैठे ऊँघने लगे थे। मेरी तन्द्रा टूटी उनके खर्राटों से। मैंने देखा कि सैण्डो-बनियाइन पहिने, सोफे पर पसरे वो खास-मेहमान बड़े ही बेढ़ंगे से लग रहे थे। ऊपर से नीचे तलक उनकी थुल-थुल काया...तिस पर बनियाइन से बाहर झाँकती तोंद। उनका गर्दन एक तरफ लटकी हुई थी। मुँह के एक कोने से शायद लार भी टपका हुआ था। कुल मिला कर वे बड़े ही बेढ़ब से लग रहे थे।

मैंने अन्दाजा लगाया...शायद, लम्बी यात्रा के कारण बेचारे बेहद थक गये हैं, इसीलिए इस कदर गहरी निद्रा में हैं कि अपनी कोई खबर ही नहीं...बिलकुल सुध-बुध खोए लेटे हैं। टी.वी. की आवाज भी उनकी नींद में खलल नहीं बन रही है। हालाँकि उनकी तरफ देखने, और उनकी दशा पर गौर करने के बाद मैंने टी.वी. का वॉल्यूम कुछ कम भी कर दिया।

''टी.वी. बन्द करिये आप लोग...और आ जाइये, सभी लोग यहाँ डॉयनिंग-टेबल पर... खाना लग गया है।'' पत्नी की इस गुहार पर मेरा ध्यान भंग हुआ। पर ढ़ंग के मीठे के बारे में सोचना अभी बन्द नहीं हुआ। उम्मीद जगी कि क्या पता...इन खास मेहमानों का लाया मीठा...शायद... भोजनोपरान्त स्वीट-डिश के रूप में ही परोसा जाये। यन्त्रवत...झट एक आज्ञाकारी पति की भाँति, मैंने उन खास मेहमान को झकझोरते हुए जगाया, और हम-दोनों डॉयनिंग-हॉल में अवतरित हुए।

जब खाना समाप्त होने के बाद भी...किसी मीठे की चर्चा नहीं हुई, और न मीठे जैसी... आशा की कोई किरण ही दिखाई दी, तो मैं पूरी तरह उम्मीद छोड़ बैठा, और खाना समाप्त कर पेट पर हाथ फेरते, जाहिर है एक हल्की सी डकार लेते, एक गिलास ठण्डा पानी पीकर, खरिका से

दाँत खोदते, मैं अपने बेड-रूम में, तथा चूँकि मेहमान, जो पहले ही उबाँसी लेने लगे थे, उन्होंने भी बिना अगला क्षण गंवाये, झट अपने तयशुदा बिस्तर...ड्राइंग-रूम में लगे दीवान पर सोने चले गये।

यद्यपि खाना समाप्त होने के बाद...एक बार मन में ये खयाल भी आया कि ज्यादा देर तक खुद को उहा-पोह में रखने के बजाय, क्यों न पत्नी से पूछ ही लूँ...कि 'मैं यदि ढ़ंग का कुछ मीठा नहीं ला पाया तो क्या ये खास-मेहमान भी मीठा या नमकीन जैसा ढ़ंग का कुछ लाना भूल गये...?' पर क्या करता...इस दिशा में

कुछ भी पूछने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। देज़-काल-स्थिति-परिस्थिति...इसके लिए इजाजत ही नहीं दे रही थी। वैसे भी मीठे को लेकर किसी भी प्रकार की बेसब्री ठीक नहीं। चूँकि सब्र का फल मीठा होता है। अत: उस मीठे के बारे में जानकारी करने के लिए मुझे सब्र करना ही होगा... कम-अज-कम, सुबह मेहमानों के घर से विदा होने तक...! सो चुप्पी लगा गया।

अन्तत: खा-पीकर देर-रात गये सभी मेहमान सो गये। सो गये मेरे-उनके बच्चे भी। पत्नी भी सो गयीं...बतियाते उनकी पत्नी संग। कारण कि...'ट्रेन' पकड़ना था मेहमानों को सुबह जल्दी ही। निकलना था उन्हें अपने आगे की यात्रा पर।

चूँकि...देर पहले ही हो गयी थी बतियाते-खाते-पीते...सोने में, और अगले दिन बच्चों के स्कूल में फीस भरने की आखिरी तिथि भी थी। फीस जमा करते हुए ही जाना था दफ्तर। सो दफ्तर के लिये मुझे भी सुबह जल्दी ही निकलना था। मैं भी अपने बिस्तर पर आ गया।

''दूर है किनाऽराऽऽ...खेते जाऽओ रेऽ''...सिरहाने रखे मेरे मोबॉयल-फोन का सिंग-टोन गूँजा। 'इतनी रात गये किसका फोन हो सकता है...?' सम्भ्रम की स्थिति में मोबॉयल उठा कर देखा. ..कोई अनसेव्ड-नम्बर था। मैं जब-तक उस कॉल को अटेण्ड करता कि फोन अपने आप ही कट गया। मैंने भी रिंग-बैक करना उचित नहीं समझा, और अनमने से अपने मोबॉयल-फोन को सॉइलेण्ट-मोड पर लगा दिया, ताकि फिर कोई फोन कर नींद में असमय व्यवधान उत्पन्न न करे।

हालाँकि मेरी आँखों में नींद तो कोसों दूर थी...फिर भी...तमाम शंकाओं, आशंकाओं, संशयों को दरकिनार करते...किसी आकाश-कुसुम से मीठे की खोज-बीन में...थक-हार कर, मीठे के बारे में ज्यादा देर तक सोचने-विचारने में अनावश्यक समय जाया करने के बजाय...अवचेतन मन की परतों के भीतर कहीं...ढ़ंग के मीठे की आस लिये, निराश-हताश सो गया मैं भी, इस सकारात्मक दृष्टिकोंण के साथ कि शायद...सपने में ही दिख जाय...मीठा कुछ ढ़ंग का।

रामनगीना मौर्य, राजकीय सेवारत (उत्तर प्रदेश) सचिवालय, लखनऊ में संयुक्त सचिव के पद पर कार्यरत। मो0–9450648701, **ई मेल**–ramnaginamaurya2011@gmail.com

स्वप्न मंजरी

लक्ष्मी यादव

कुछ देर के लिए वसुधा की अंगुलियाँ ठहर गयीं..., लेकिन मन कहना चाहता था कि.., आजकल मैं भी सिर्फ आपके लिए ही लिखती हूँ ... मेरे शब्द और मेरी दुनिया बस आपकी बातों, स्मृतियों से भरे हैं और वो कल्पनाओ का घर जो आपके शब्दों से मेरे आस पास जी उठता है मैं अब उसी घर में एक रानी की तरह रहती हूँ...।

हेल्लो, कैसी हो ...?

उसके मोबाइल फोन की बत्ती जली....उसने मेसेज पढ़ा हेल्लो, मैं अच्छी हूँ...., आप कैसे हैं ..?

उसने भी जवाब दिया ...

मैं भी ठीक हूँ....।

सुनो! तुमने जो काम किया था न ! ...उसके पैसे, मिलकर ले लो ...।

कैसा काम ...?

वही डाक्यूमेंट्री फिल्म की स्क्रिप्ट लिखने का काम ...।

लेकिन.., उसके पैसे तो आप मुझे दे चुके हैं... मेरे जन्मदिन पर ..अरे, वो तो तुम्हारा बर्थडे गिफ्ट था.. अब मै मिलने नहीं आ सका तो सोचा कैश ठीक रहेगा ...तुम अपनी पसंद से खरीद लोगी, अपने लिए कुछ ..., लेकिन मैं जानता हूँ कि तुमने कुछ नहीं खरीदा होगा ...।

हाँ, नहीं खरीदा .., उन पैसों से घर का किराया दे दिया और बचे हुए पैसों से ....,

रहने दो ..., जानता हूँ ... घर पर ही खर्च कर दिए होंगे.. या किसी की मदद ही कर दी होगी ..बहुत बड़ी समाज सेविका जो हो।

इतनी बातों के बाद कुछ देर के लिए मोबाइल फोन पर व्हाट्स-अएप मेसेज आना बंद हो गये लेकिन समीर अभी भी ऑनलाइन था ... वसुधा ने फिर मेसेज टाइप किया ... आप कब जा रहे हैं ..?

नेक्स्ट वीक मेरी "लाइट है ....

अच्छा ...ठीक है आपके जाने से पहले मिलते हैं..., पक्का ....!

इंतजार रहेगा .... समय और जगह बता देना आ जाऊंगा ..।

ठीक है ...। आपकी नई वाली कविता पढ़ी ..बहुत अच्छी लगी ..।

आज वाली ..?

हाँ ..।

रोज ही लिखना है एक कविता , तुम्हे अच्छी लगी ..., मेरा लिखना सफल हुआ ...। आप बहुत अच्छा लिखते हैं ... दिल से लिखते हैं जैसे बिना सजावट कोई कुदरती रूप से अच्छा लगता है न .. बिल्कुल वैसे शब्द स्वछन्द भाव ... निर्मल अनुभूतियाँ ...।

''स्वप्न और यथार्थ के बीच के रिक्त स्थान में मेरी कल्पनाओं का जो सुंदर सा घर है न.. उसे जीवन दे देती हैं आपकी कवितायें। ये टेक्स्ट लिखा तो गया लेकिन भेजा नहीं वसुधा ने.., डिलीट कर दिया।''

मैं तुम्हारे लिए ही तो लिखता हूँ ..। ... समीर ने कहा मेरे लिए...।

हाँ .., तुम ही मेरी प्रेरणा हो ..। ''मुझे बस तुम्हारे लिए लिखना है ... रोज एक कविता ....।''

कुछ देर के लिए वसुधा की अंगुलियाँ ठहर गयीं ..., लेकिन मन कहना चाहता था कि.., ''आजकल मैं भी सिर्फ आपके लिए ही लिखती हूँ ... मेरे शब्द और मेरी दुनिया बस आपकी बातों, स्मृतियों से भरे हैं और वो कल्पनाओ का घर जो आपके शब्दों से मेरे आस पास जी उठता है मैं अब उसी घर में एक रानी की तरह रहती हूँ...।''

वसुधा ये सब कहना चाहती थी.., समीर से.., लेकिन उसने कुछ नहीं कहा ..., मन का कोई साया , उसकी आँखों में बादल का एक छोटा सा टुकड़ा बनकर बसर गया था ...., जिसके बाद अब उसके आस पास से कल्पना का वह घर अचानक ओझल हो गया था... एक और मेसेज आ चुका था वसुधा के फोन की स्क्रीन पर जिसे वो पढने लगी।

सुनो ! कोई फिल्म देखने चलें ..?

फिल्म ..?

हाँ ...।''

अगर तुम चाहो तो ...।''

ठीक है बताती हूँ ...।

ठीक है बता देना ...टिकट बुक कर लूँगा ...।''

ठीक है ..।''

इंतजार रहेगा ...।

खयाल रखियेगा ... जा रही हूँ विनय के आने का समय हो गया है.., खाना पकाना है ..।

ठीक है ... टेक केयर ..।''

वसुधा ने अपना मोबाइल फोन चार्जिंग पर लगा दिया और सीधे रसोई की ओर चली गयी। अब उसके आस पास फिलहाल कल्पना का घर नहीं था। अब वो एक ऐसे घर के रसोई में प्याज काट रही थी जिसमे न तो रसोई के धुएं के बाहर निकलने का कोई रास्ता था। न ही दिन की पहली किरण के लिए घर के भीतर आने की कोई खिड़की थी। उसके घर में कोई बालकनी नहीं थी जिस में खड़ी होकर वो रोज सड़क पर आने जाने वाले लोगों को देख पाती .. जबकि बचपन में ये शगल उसे खूब भाता था ... लेकिन वो जानती है कि अब वो बच्ची नहीं है।

वसुधा को वो घर बहुत अच्छे लगते हैं जिनमे खुले खुले हवादार कमरे होते हैं, एक छोटा सा आँगन जिसमे थोड़ी सी जगह में रंग बिरंगी फूलों वाले पौधे लगे हों या फिर कोई बालकानी हो जहाँ पर गमलों में फूलों वाले पौधे और सजावट के खूब सारे पौधे हों और एक छोटे से गमले में एक तुलसी का पौधा हो.., ''श्यामा तुलसी'' ...।

घर में कमरों की छत जरा ऊँची हो, नीची छत वाले कमरे वसुधा को यूँ लगते हैं जैसे कमरे दीवारों और छतों के साथ रहने वालों को दबाने की कोशिश कर रहे हों और ऊँची छत वाले विस्तार देते कमरे उसे अच्छे लगते हैं। उसे घर में आसमानी और हल्के गुलाबी रंग के मखमली परदे बहुत भाते हैं, गुलाबी रंग के परदे दरवाजे पर और खिड़की पर आसमानी रंग के परदे जिनसे छनकर रात कि चांदनी हर रात पलग पर तकिये के सफेद रंग के लिहफ को हल्के आसमानी हो जाए ..और सुबह सूरज की लाल किरणे माथे पर एक चुनर सी ओढ़ा दे जिसे ओढ़े ओढ़े खिड़की से उगते हुए सूरज को जी भर देखा जा सके ...और खुद में ढेर सारी उर्जा भरी जा सके। बालकानी में छत की मोटी कील या छल्ले से बंधा कोई झूला या झूला कुर्सी हो... जिसमे बैठकर कॉफी पीते हुए .. सुबह सुबह कोई ताजी कविता लिखी जा सके। खाना पकाते हुए वसुधा के मन में एक कविता भी बन गयी थी..वो हाथ धोकर अपनी डायरी निकालकर कविता लिखने लगी तभी डोरबेल बज गयी ... वसुधा ने दरवाजा खोला .. मोबाइल फोन पर बात करता हुआ विनय कमरे में आते ही बैग वसुधा को पकड़ा देता है जिसे वो ले जाकर बेडरूम में रख देती है विनय को खाने के बाद ऑफिस का काम जो करना है।

जब वो लौटी तो विनय को फोन के साथ ही टॉयलेट में घुस चुका था। उसने सोचा जब तक विनय फ्रेश होकर आएगा तब तक वो अपनी कविता ही पूरी कर लें ...लेकिन अब उसे वो कविता याद ही नहीं आती ..... वो डायरी बंद कर किचन की ओर चल देती है।

खाना खाने से लेकर बिस्तर पर आने तक में विनय ने वसुधा को एक नजर भी नहीं देखा वसुधा मोबाइल फोन लिए समीर की कविताओं में खो जाती है और विनय लैपटॉप खोले अपने ऑफिस का काम करने लगता है। सुबह अलार्म बेल के साथ वसुधा की नींद खुलती है वो आँखे मलते हुए पहले बाथरूम फिर रसोई की ओर चल देती है दूध गर्म करने गैस पर चढ़ाकर बर्तन धोने लगती है .. बर्तन धोकर चाय चढ़ा देती है चाय बनने तक वो ब्रश कर लेती है... विनय को चाय देकर...चाय पीते पीते ही वसुधा विनय नाश्ता तैयार कर देती है...नाश्ता जब तक विनय की टेबल पर पहुँच कर खत्म होता है उतनी ही देर में उसे विनय का टिफिन तैयार करना होता है .. टिफिन पैक करके जल्दी जल्दी चेहरे पर बिखरे बाल ठीक करते हुए वसुधा अपनी थकान पर मुस्कान सजा लेती है और पतिदेव क सामने आकर आज्ञाकारी पत्नी की तरह खड़ी हो जाती है। वसुधा विनय का चेहरा बड़े ध्यान से देखती है और विनय उसे देखते ही अपनी जेब में हाथ डालकर 500 का नोट निकलकर उसे थमा देता ... ह्ये लो 500 रूपए सब्जी भाजी और बाकी कोई सामान लाना हो तो ले आना ... वसुधा अपने हाथ में नोट को देख कर जब वापस पलटकर विनय को देखने को होती है तब तक विनय जूते पहनकर जाने लगता है वसुधा फिर से विनय की ओर ध्यान से देखती है ... विनय- ''अब क्या हुआ?''

वसुधा - कुछ नहीं।

विनय का मोबाईल फोन घनघना उठता है वो मोबाइल को कंधो पर टिकाये बात करते हुए ही अपनी बाइक स्टार्ट कर चल देता है वसुधा दरवाजा बंद कर भीतर आ जाती है। विनय के ऑफिस के 6 दिनों में हर रोज वसुधा का यही रूटीन रहता है छुट्टी वाले दिन कभी बाहर खाना खा लिया या कोई फैमिली फिल्म देखने चले गये बस।

वसुधा घर के सब काम निपटाती है और खाली होकर मोबाइल लिए आज की अपनी कविता पढ़ने लगी ..। समीर की कविता ...जिसे पढ़कर उसके आस पास कल्पना का घर फिर अवतरित हो जाता है।

वसुधा सोचने लगती है जिसे उसने अबतक नहीं देखा वो उसके मन की भावनाओं को कितना समझता है और वो जिसके साथ वो 5 सालों सेरह रही है उसके पास समय ही नहीं है कि दो पल ठहर कर उसे देखे ....उसके बारे में कुछ बात कहे ...। अगर मैं लिखती नहीं या तुम मुझे पढ़ते नहीं तो आज हमारी ये दुनिया नहीं होती। मेरी कहानियों कविताओं में तुमने मुझे मेरे ही नये अर्थ दिए समीर ...मैं बता नहीं सकती कि तुम मेरे लिए क्या हो !

छः महीने हो गये समीर से मिले, हाँ ये अजीब सा मिलना जिसमे कोई मुलाकात नही हुई अब तक लेकिन वसुधा को कभी ये नहीं लगता कि वे नही मिले ...वसुधा को यूँ मिलना कभी ठीक नहीं लगा या शायद वो चाहकर भी नहीं मिल पाई थी ... समीर ने भी मिलने की कभी जिद नहीं की थी ... वो तो कहता था कि आखिरी साँस तक इंतजार कर सकता है ..।

मिलने का वक्त निकल गया था .. आज समीर की "लाइट थी ...उसने एअरपोर्ट पहुंचकर मेसेज किया ...

जा रहा हूँ ...।

कहाँ ?

गोवा ..एक फिल्म फेस्टिवल है उसमे मुझे पूरा इवेंट शूट करना है तो टीम के साथ जा रहा हूँ ।

अच्छा ..

वसुधा मिलने का समय भूली नही थी ...उसे सब याद था लेकिन जाने किस उधेड़बुन में वो समीर से मिलने नहीं जा सकी थी।

समीर शायद वसुधा की मनस्थिति समझता है इसलिए वो खुद कोई सवाल नही पूछता।

आप अकेले गये हैं गोवा मैडम साथ नहीं गयीं ?

जूही भी साथ है...।

वसुधा के हाथ रुक गये दो पल के लिए ..।

क्या हुआ ..?

कुछ नहीं ...।

अच्छा सुनो ! गोवा से तुम्हारे लिए क्या लाऊं ..?

मुझे कुछ नहीं चाहिए ..।

अरे ऐसे कैसे कुछ तो अच्छा लगता होगा ..?

पता नहीं ... वसुधा नई नवेली प्रेयसी की तरह मुस्कुरा रही थी ....उधार समीर भी ...

जो आपको ठीक लगे ले लीजिये ...लेकिन ज्यादा खर्च नहीं ...

ठीक है .... लेकिन जो भी लाऊँगा उसे तुम तक कैसे पहुचाऊँ ..?

आप आइये फिर मिलते हैं।

मर न जाता गर यकीन होता ..।

इस बार पक्का .....

और सुनो तुमने कहा था न कि घर जाना चाहती हो माँ से मिलने ...मैंने तुम्हारा टिकट करा दिया है राजधानी का ... मेसेज आया होगा ..

अरे आपने क्यूँ कराया ...? मैं करा लेती ..?

बस से अकेले जाना ठीक नहीं ... इसलिए करा दिया ...और हाँ लौट कर तुमको पैसे भी दे दूंगा और नेक्स्ट प्रोजेक्ट की डिटेल्स भेज दी हैं .. अभी टाइम है आराम से लिख लेना ...। अच्छा सुनो फ्लाइट लैंड होने के बाद बात करता हूँ ..।

ठीक है ... ख्याल रखियेगा .. हैप्पी जर्नी ...

तुम भी ख्याल रखना ...।

समीर गोवा से लौट चुका था... वसुधा ने समीर का ना प्रोजेक्ट लिखकर उसे मेल कर दिया था.. वो अपनी माँ से मिलकर कानपुर से वापस दिल्ली आ चुकी थी। समीर ने वसुधा की दुनिया ही बदल दी थी ... एक ऐसा इंसान जिससे वो अब तक मिली नहीं थी। वसुधा ने समीर को उस सब के लिए धन्यवाद कहा जिससे उसकी जिंदगी का अधूरापन दूर हो गया था ..। समीर ने बदले में फिर एक कविता रच दी।

समीर ने कहा ...तुम्हारी खुशी ही मेरे जीवन का लक्ष्य है और तुम्हारे लिए लिखना मेरा

वसुधा कोई गीत गुनगुना रही थी और आज उसने जो अपनी पसंद का सारा खाना बनाया था उसे डीनर टेबल पर लगा रही थी....। डिनर टेबल पर आज विनय वसुधा को एकटक देखे जा रहा था लेकिन वसुधा विनय को नहीं देख रही थी उनके बीच एक खाली कुर्सी थी जो अमूमन रहती है, आज वसुधा को वहाँ कोई बैठा नजर आ रहा था ...वो जिससे अब तक मिली नहीं थी ...जिसे उसने सामने से अब तक नहीं देखा था।

सबसे प्यारा काम ... और हाँ सुनो हमारे रिश्ते में ये सॉरी और थैंक यू के लिए कोई जगह नहीं है समझी। तुम्हारा चेक बना दूँ? मिलने आओगी ..? अभी दो प्रोजेक्ट और तुमको मेल करूँगा।

मैं मिल नहीं सकती हूँ आपसे ...

क्यूँ ..?

इस क्यूँ का मेरे पास कोई जवाब नहीं है ....।

समीर ने आगे कुछ नहीं पूछा..।

अगले दिन 10,000 रूपए वसुधा के अकाउंट में आ चुके थे मेसेज विनय ने पढ़ा था वो खुशी था कि उसकी पत्नी घर बैठे बैठे काम कर रही है ... विनय को वसुधा की कहानियों कविताओं से कोई खास लगाव नहीं रहा...उसे तो बस अपनी सीढ़ी सादी नौकरी समझ में आती है बस। लेकिन कुछ दिनों से विनय को वसुधा की बेमतलब की खुशी अखरने लगी है अब वो वसुधा को आते जाते बहुत ध्यान से देखता है ... पहले टकटकी लगाकर देखने वाली वसुधा विनय की

ओर एक पल के लिए भी नहीं देखती .. ये बात विनय के मन में एक जासूसी सवाल की तरह दिन रात घूमा करती है।

वसुधा इस बार समीर के दिए पैसों से अपने लिए कई सारी ड्रेसेस लायी थी और एक आसमानी साड़ी भी ...आज वसुधा ने खूब बन संवर कर नई आसमानी साड़ी में अपनी सेल्फी ली थी जिसे उसने फेसबुक पर पोस्ट की थी ...। सबसे पहले उस फोटो पर समीर की एक कविता कमेंट बॉक्स में पोस्ट हो गयी थी ..., तभी दरवाजे पर विनय की बाइक आ रुकी थी ..।

आज जब वसुधा ने दरवाजा खोला तो विनय ने उसे देखते ही अपने मोबाइल फोन की कॉल डिसकनेक्ट कर दी थी और घर में इधर उधर कुछ खोजने लगा था। विनय को यूँ खोज करते हुए देख वसुधा ने पूछा ..'

क्या हुआ विनय ? आप क्या खोज रहे हैं ?

नहीं कुछ नहीं, मुझे लगा कोई आया है घर में ..?

यहाँ कौन आएगा ...? और आएगा भी तो आपको पता होगा ..?

वसुधा कोई गीत गुनगुना रही थी और आज उसने जो अपनी पसंद का सारा खाना बनाया था उसे डीनर टेबल पर लगा रही थी.... । डिनर टेबल पर आज विनय वसुधा को एकटक देखे जा रहा था लेकिन वसुधा विनय को नहीं देख रही थी उनके बीच एक खाली कुर्सी थी जो अमूमन रहती है , आज वसुधा को वहां कोई बैठा नजर आ रहा था ...वो जिससे वो अब तक मिली नहीं थी ...जिसे उसने सामने से अब तक नहीं देखा था।

विनय के फोन पर फिर से घंटी बज गयी थी बात करते हुए उसने खाना खत्म किया और बेडरूम की ओर चला गया ...वसुधा कविता की धुन पर गुनगुना रही थी .....विनय ने कई बार वसुधा का नाम लिया ....उसके सामने विनय का लैपटॉप था जो उससे नही दिखाई दे रहा था... वसुधा जिस कविता को गा रही थी उसके कुछ शब्द उसके कानों में गूंज रहे थे....।

तुम हो निश्छल, पावन स्वर लहरी,
तुममे रहते मेरे दिन, रैन, दुपहरी...
तुमको सुनता हूँ, मैं तुम सा हो जाता हूँ, तुम हो मेरे हृदय में पलती, बढ़ती मेरी स्वप्न मंजरी..... !

लक्ष्मी यादव, स्वतंत्र लेखक, पत्रकार, रेडियो, टेलीविजन व फिल्म के लिए लेखन,
ई–54, गणेश नगर, पांडव नगर, दिल्ली – 92, मोबाइल नंबर – 9711852463

उतरती नहीं है धूप

विजय निकोर

तुम्हारे स्नेहिल मादक स्पर्श
मेरे शिशु-मन को स्वयं में समाविष्ट करते
प्राणदायक आत्मीय वसन्ती हवा-से
और फिर अचानक कभी-कभी
तुम्हारे रोष
पता नहीं थे वह
मुझसे दूर जाने के लिए
या थे बहाने वह तुम्हारे
बहका कर, बहला कर
मेरे और पास आने के लिए

जो भी थे
तुम्हारे रोष कभी
कठोर नहीं थे
मेरी अधूरी-सतही-बचकानी बातों पर
वसन्त में पीली सरसों के विस्तार-सी
कितनी सहज हँस पड़ती थी तुम
वह सारे गुस्से तुम्हारे पल भर में
उस हँसी में घुल जाते
छिप जाता था मैं निश्चिन्ति उस पल
ओढ़ कर सिर पर आँचल तुम्हारा
वह बचपन था
मासूम बचपन था वह
शिशु-हृदय पर अंकित
सिहर-सिहर अब आँसू भरा
वह कोई नश्वर सपना था

हुआ होगा जरूर कोई
महा-अपराध मुझसे
एक दिन रोष विधि का
बहुत कठोर हुआ मुझपर
कि जैसे कोई विशैला सर्प
मेरे सारे बदन पर रेंग गया
न डाक्टर, न दवा, न मैं
कोई तुम्हें न रोक सका
आँखे मूंद तुम चली गई
जहाँ से कोई न लौट सका

आज सुबह के ठिठुरते कोहरे में
शरद के मेरे उदास आँगन में
जब उतरती नहीं है धूप
सोचता हूँ पूछूँ प्रश्न तुमसे
जहाँ भी हो, देख-देख मुझको
माँ, तुम अभी भी हँस रही हो क्या ?
सांध्य-दीप-वेला में पाता हूँ तुमको
प्रति दिन निकट, कुछ और निकट
पूछूँ किस-किस पतंगे से माँ
नहीं हो तुम, क्या यह है भ्रम मेरा ?

विजय निकोर, साहित्यकार, यू0एस0ए0, हिन्दी एवं अंग्रेजी के कई रचनाएँ, कल्पना, लहर, आजकल, वातायन, जागृति, त्रिपथगा, रानी हिन्दुस्तान टाईम्स, थाट्स आदि में प्रकाशित।

वाराणसी में गिरता पत्थर

मैं कल जब यहाँ था
ठीक उसी समय
बस में सवारी करते हुए
कार चलाते हुए
बाइक से घर लौटते हुए
मैं वाराणसी में भी था
सुबह ऑफिस जाते वक्त बेटी ने कहा था
पापा शाम आज बर्थडे है मेरा
केक लाना मत भूलना
लौटते वक्त मैंने केक को
कार की पिछली सीट पर संभाल कर रखा था
कॉलेज के लिए निकलते वक्त माँ ने याद दिलाया था
बेटा लौटते वक्त दवाई लाना मत भूलना
वरना पूरी रात बीतेगी खांसते, खरोसते
लौटते वक्त मैंने दवाइयों को
बाइक के हैंडल पर लटका रखा था
आज सुबह लाठी के सहारे चलकर
पत्नी ने डबडबाई आँखों से कहा था
नाती-पोतों को ले आओ बड़ा मन है उनसे मिलने का
शाम को मैं, बस में अपनी पोती के संग घर लौट रहा था
आहिस्ता आहिस्ता
बाइक, कार, ऑटो और बसों में
गंगा किनारे सड़कों पर रेंग रही थी जिंदगियाँ
उस पल जिंदगी की रफतार धीमी थी
क्योंकि शहर में विकास की कलियाँ खिल रही थीं

अचानक गंगा के शहर में वज्रपात हुआ
विकास का एक पिल्लर
धाम्म से जमीन पर औंधे मुँह गिर पड़ा
और नीचे दबकर खाकसार हो गई
बाइक, कार, ऑटो और बसों में रेंग रही जिंदगियाँ
लिखने से पहले ही मिटा दी गई कई कहानियाँ
अनसुनी हो गई सारी प्रार्थनाएँ
जो गूंज रही थी ब्रिज के पास बने
मंदिरों और मस्जिदों में

सड़क की दूसरी ओर एक पागल चिल्ला रहा था
कंक्रीट के जंगल कुर्बानी मांगते हैं....
कंक्रीट के जंगल कुर्बानी मांगते हैं...
मगर उसकी आवाज
क्रंदन, चित्कार और ट्रैफिक के शोरगुल में दब गई

डॉ. ललित सिंह राजपुरोहित, अधिकारी (राभा), मंगलूर रिफाइनरी एंड पेट्रोकेमिकल्स लिमिटेड,
कर्नाटक पोस्ट : कुत्तेतूर, वाया काटिपल्ला – 575 030, मंगलूरु कनार्टक
ई–मेल : lalit_raj@mrpl-co-in & lalitcallingyou@gmail-com

✧ ✧ ✧

कत्थई आँखों वाला शब्द

रातरानी की खुशबू में लिपटा हुआ
कत्थई आँखों वाला एक शब्द
डरा सहमा सा मेरे पास से गुजरा
गली के आखरी मुहाने पर ओझल हो जाने तक
मेरे आस-पास मंडराता रहा
रातरानी की खुशबू में गुँथा हुआ
अजीब सा डर
कत्थई आँखों वाले शब्द के चेहरे पर

गली के नुक्कड़ पर पान की गुमटी में
डेरा जमाए हुए थे कुछ बदरंग शब्द
बिना किसी आहट
कर रहे थे पीछा
कत्थई आँखों वाले शब्द का
धुएँ के छल्ले बनाते हुए
कुछ मटमैले शब्द

अचनाक सब कुछ थम सा गया
जब कत्थई आँखों वाला शब्द
खाकी रंग के शब्द के साथ
पलट कर लौटा पान की गुमटी की ओर
सारे मटमैले शब्द छूमंतर हो गए
और
बदरंग शब्द बदल गए
रूई के फोये से सफेद रंग में

डॉ. ललित सिंह राजपुरोहित, अधिकारी (राभा), मंगलूर रिफाइनरी एंड पेट्रोकेमिकल्स लिमिटेड,
कर्नाटक पोस्ट : कुत्तेतूर, वाया काटिपल्ला – 575 030, मंगलूरु कनार्टक
ई–मेल : lalit_raj@mrpl-co-in & lalitcallingyou@gmail-com

✧ ✧ ✧

इन्द्र दिव्यांजलि

इन्द्र : दिव्यांजलि (1)

प्रभु मेरे!
कली रूप में स्वीकार करो
पुष्प बनुँगा तो भू-लुंठित हो जाउँगा
धूल-धुसरित होने पर
न माली माला में गाँथेगा
न कोई तुमको पहनाएगा
सेवा का मौका नहीं मिलेगा
मुझे तोड़ लो मुझे तोड़ लो
जल्दी तोड़ो बिलम्ब न अबकर
दिन ढ़ल जाएगा
सान्ध्य बेला आएगा
तेरे पूजा का मुहूर्त्त बीत जाएगा
मेरे अवसान समय भी आ जाएगा
तोड़ लो तोड़ लो
समय नहीं है अब
सेवा का अवसर दो
मुझे तोड़ लो तोड़ लो
भवसागर से पार कर दो।

इन्द्र : दिव्यांजलि 2

मेरे जीवन की कटुता
तेरे प्रेम की सरिता में
डूब गयी डूब गयी

मैंने चिन्तन मनन किया
अमृत मिला वहाँ मुझको
मेरी साधना-अराधना
तेरे गीत-सुधा का पान किया
अपमान मान का भेद मिटा
आकर्षण तेरा खीच लिया
सभी आशाएँ दौड़ी तेरी ओर
मेरे गीतों का राग ताल बदल गया
मेरे बाह्य जगत के सकल पदार्थ
हिमखंड जैसे पिघल गया
मेरे नयन ने तेरे नयन को देखा
पाया जीवन का सच्चा धन
जग के सभी राग रंगों में
विराग का शतदल खिला...

इन्द्र : दिव्यांजलि (3)

रे मानव!
दानवता छोड़
कर उसमें लीन
जिसने तुझे दिया है जीवन
पृथवी जल आकाश
सूर्य चन्द्र सी उर्जा
अन्न-धन-लक्ष्मी दान
कर लो अपने को
उस अदृश्य में लीन
चखता है स्वाद सुखों का
तृप्त कभी न होवेगा

सुखदाता कौन बनेगा
दुखदाता को खोजोगे
प्रभु तुझे मिल जाएगा
जग का भला कराएगा।

इन्द्र : दिव्यांजलि (4)

अरे मानव !
तुम स्वयं के अलावा
कुछ और नहीं हो सकते
एक बार यह सत्य भाव
हृदयंगम कर लोगेतो
जीवन को प्रेम करोगे
शंकाएँ पक्षी बन उड़ जाएँगी
किसी से कोई अपेक्षा नहीं रह पाएँगी
पीपल बरगद नीम बनकर
सबको छाया देगा
तेरे लिए न कुछ लौकिक
पर लौकिक रह पाएगा
तुम वहाँ पहुँच जाओगे
जहाँ मिलेंगे सभी खुशी जन

डॉ. इन्द्रकान्त झा, पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, मैथिली विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना
जे.एफ–1, ब्लॉक नं.–7, फ्लैट नं.–80, राजेन्द्र नगर, रोड नं.–10, पटना–16
मो. : 8252828039

पं० तिलकराज शर्मा स्मृति अंतरराष्ट्रीय सृजन शिखर सम्मान

चिलचिलाती धूप में बरगद की छाँव हैं
संग हैं पिता तो हर जगह खुशियों के गाँव हैं ।
मुश्किल डगर हो लाख, काँटों से भरी हुई
संग है पिता की सीख तो मंजिल पे पाँव हैं ॥

त दिवस ''पंद्मतिलकराज शर्मा मेमोरियल ट्रस्ट ''की ओर से ''पं० तिलकराज शर्मा स्मृति अंतरराष्ट्रीय सृजन शिखर सम्मान ''से अलंकृत किया गया जिसमें प्रत्येक सम्मानित विभूति को पंद्मतिलकराज शर्मा स्मृतिचिह्न, प्रशस्ति पत्र ,शाल तथा ग्यारह हजार रुद्मकी राशी प्रदान की गई। गगनांचल पत्रिका के सम्पादक डक्टरीश नवल ने कार्यक्रम की अधयक्षता की। रोटरी मण्डल 3012 में कला एवं संस्ख्रति चेयरमैन रोटे. श्री हर्षवर्धान आर्य के संयोजन और संचालन में आयोजित होने वाले इस आयोजन में लब्धाप्रतिष्ठ संगीतज्ञ एवं कबीर भजन गायक पद्मश्री डक्ट भारती बंधु , कई भाषाओं के विद्वान साहित्यकार डक्ट एच. बालसुब्रह्मण्यम , जाने माने शिक्षाविद श्री श्रीराम वर्मा ,जाने माने चिकित्सक डक्ट एन. के.शर्मा तथा ए सी पी श्री रामदल जी को सम्मानित किया। अमेरिका से पधाारे प्रसि) व्यसायी और पंद्मतिलकराज शर्मा मेमोरियल ट्रस्ट के अधयक्ष श्री इन्द्रजीत शर्मा, डक्ट बाल स्वरूप राही, डक्ट हरीश नवल, पद्मश्री डक्ट भारती बन्धु,श्री हर्षवर्धान आर्य ने इस अवसर पर उपस्थित साहित्य, संगीत, कला , समाजसेवा ,चिकित्सा, राजनीतिक क्षेत्र से श्री श्रीकांत दुबे, श्री रविन्द्र तंवर, डक्टपंकज त्यागी, श्री देवनारायण शर्मा, श्री रूपचन्द ,श्री विजय स्वर्णकार, श्री दीपक गुप्ता, श्रीमती कुसुम शर्मा, सहित अनेक श्रेष्ठ विभूतियो को सृजन सेवा पदक प्रदान किए । श्री इन्द्रजीत शर्मा की बिटिया छाया शर्मा के अनुग्रह पर इस अवसर पर प्रख्यात कबीर,स्फी गायक पद्मश्री डक्ट भारती बन्धु जी ने सुमधुर भजनों की अद्भुत वर्षा की । कबीर गायकी के अनूठे अंदाज में ''उड़ जा हंस अकेला साधाो-उड़ जा हंस अकेला ''और राम जी की गाड़ी ने ऐसा समां बाँधाा की पूरा सभागार मंत्रमुग्धा हो गया। कार्यक्रम की शुरुआत संगीत साधाना में संलग्न आर्या अमृता ने सुमधुर स्वर में पितृवंदना के माधयम से की।

हर्षवर्धन आर्य